कबीर

कबीर

[जीवनी, सिद्धान्त और कवित्व का विवेचन एवं काव्य]
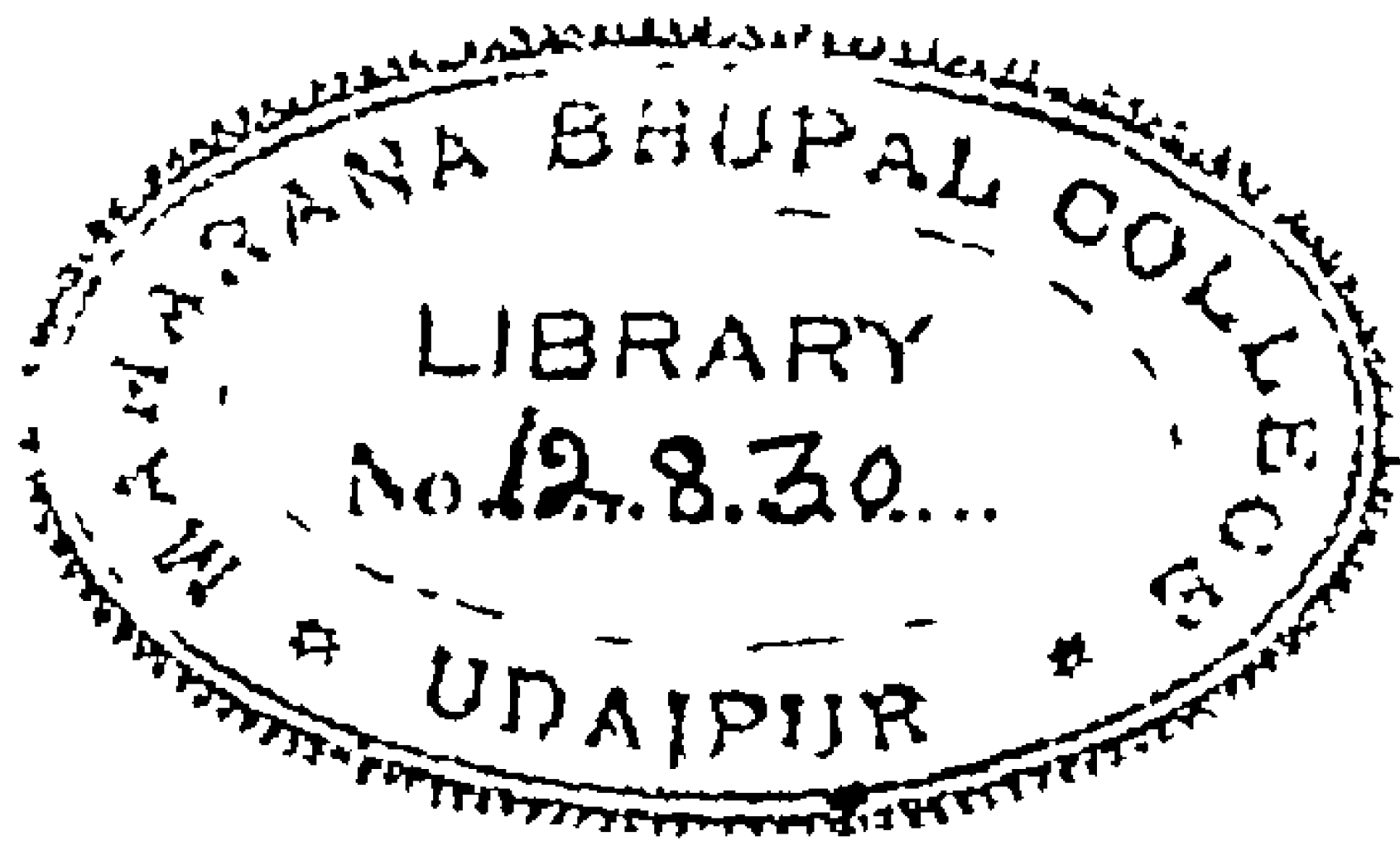
लेखक तथा सम्पादक

श्रीमहावीरसिंह गहलोत, एम० ए०

प्रकाशक

शक्ति कार्यालय

७६३ दारागंज, प्रयाग

ढाई रुपये

पृष्ठ १—१६० तक ल० ना०, प्रेस बनारस में छपा तथा शेष स्टैन्डर्ड प्रेस प्रयाग में।

सूची

व्यक्तित्व

कबीर, हिन्दी साहित्य की निर्गुण धारा के प्रतीक हैं। कबीर का परिचय सम्पूर्ण संत-कवि समुदाय की परिभाषा है। संतों के 'जाँत-पाँत' नहीं होती; उनमें 'ऊँच-नीच' का अन्तर नहीं होता; पालन-पोषण ईश्वर के आधीन रहता है। यही सब विशेषतायें कबीर में हैं। कबीर के जन्म, जाति, वंश, माता-पिता, जीवन-चरित्र और देह-त्याग आदि के समस्त प्रश्न अभी तक विवादग्रस्त हैं। भारत की १५वीं शती में भक्ति का जो आंदोलन सहसा पनप उठा और जड़ पकड़ कर वेग से प्रसार पाने लगा, उसके कारण सम्भव है आँक लिए जावें पर उसका मूल रूप अभी तक रहस्य-मय है: उसका स्वरूप आज भी विवाद का विषय है। इसी संत सम्प्रदाय के अग्रज कबीर, इस भक्ति आंदोलन की निर्गुण धारा के प्रतीक हैं।

भारत की उक्त शती में, योग के क्षेत्र में वैष्णव अहिंसा की खाद पाकर, अनन्य प्रेम का बीज समदृष्टि का जल पाकर फूट निकला और भक्ति लता के रूप में, साहस के स्तम्भ का सहारा पाकर चारों ओर फैल गई। इस लता की सुखद शीतल छाया में कबीर ने तर्क के पत्थर और व्यङ्ग के डंडे से जाति-भेद, वर्ण-भेद और वर्ग-भेद के विषकुम्भ फोड़ डाले। नाभादास के शब्दों में—

कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी।
भक्ति विमुख जो धर्म सो अधरम करि गायो।
जोग जग्यदान भजन बिनु तुच्छ दिखायो।
हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी, सबदी, साखी।
पक्षपात नहिं वचन, सब ही के हित की भाखी।
आरूढ़ दसा है जगत पर, मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी ॥६०॥

यह है कबीर का व्यक्तित्व विश्लेषण। भक्त पारखी नाभा-दास की यह आलोचना कबीर को समझने के लिए अति आव-श्यक है। प्रचलित वर्ण भेद और षट दर्शनों की मर्यादा का उल्लङ्घन कबीर ने किया; यह चरित सिद्ध करता है कि कबीर पुस्तक ज्ञान और धर्मशास्त्र की वर्ग भेद नीति को अग्राह्य समझते थे। उन्होंने धर्मों की अधर्मता को सब के सन्मुख रखा। भाव भक्ति को गौण समझनेवाले सभी मत कबीर के लिए 'अधरम' थे। ईश्वर भजन के बिना योग, यज्ञ, दान आदि बाह्य कर्मकाण्ड

सभी तुच्छ थे। इस प्रकार कबीर का व्यक्तित्व हमारे सन्मुख एक प्रबल भक्त के रूप में आता है जो कि भक्ति के संग भजन को प्रमुख मानता है। भक्त कबीर का दूसरा साहसिक कार्य उन्हें संत भी सिद्ध करता है। प्राणी मात्र के हित की बात उन्होंने साखी, सबदी, रमैणी के रूप मे गाई। जग के लिए उन्होंने ठकुर सुहाती नहीं कही। पक्षपात रहित वचन कहने वाले कबीर, हिन्दू और तुरक के लिए संत के रूप में पूज्य हो गए। वास्तव में कबीर पहले भक्त हैं और फिर संत। उनकी विचारधारा उन्हें भक्त के रूप में ही उपस्थित करती है। पर कबीर को संत का चोला आजकल पहना दिया गया है। कबीर के इस संत रूप का अध्ययन आगे करेंगे। तब तक इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि कबीर को भले ही हिन्दू और मुसलमानों में एकता करानेवाला संत कहा जाय पर कबीर का यह सुधारक रूप केवल मुसलमानों के लिए ही नहीं था वरन् कबीर ने जैन श्रावकों, योगियों, शाक्तों, अवधूतों, नाथों आदि को भी खूब आड़ों हाथ लिया है।

इन दिनों सुधारक कबीर का रूप बहुत कुछ सामने रखा जा रहा है। वास्तव में वर्तमान हिन्दू मुस्लिम समस्या के कारण कबीर को लोग संत की दृष्टि से ही देखते हैं। संत कबीर को मुलतः तुलसीदास की परिभाषा के अनुसार ही तौलना युक्ति संगत जान पड़ता है। तुलसी का संत—"मधुकर सरिस गुन-ग्राही" है। कबीर ने भी अपनी भक्ति में सभी प्रचलित मत-

मतान्तरों से गुण संचय किया है। उन्होंने वेदांतियों से ज्ञान पक्ष, वैष्णवों से अहिंसा और प्रपत्ति, सूफियों से प्रेम तत्त्व, हठ-योगियों से साधनात्मक रहस्यवाद और सिद्धों से उलट बाँसियों के रूपकों की परम्परा ली। कबीर की भक्ति 'नवाध' न रह कर 'दशधा' हो गई और इस मधुकरी वृत्ति के कारण वे काल प्रसूत विभूति माने जाने लगे। संत कबीर गुण ग्राहिता के साथ तुलसो के शब्दों में 'गुन गहहि, परिहरि वारि विकार' वाले भी हैं। हंस कबीर ने पथ तो ग्रहण किया, पर प्रचलित कर्मकाण्ड, जप तप तीर्थ के विधान, आदि बाह्य-उपचारों का सर्वथा त्याग किया। सुधारक कबीर ने राम और रहीम को भिन्न माननेवालों को ललकारा। इसमें उनका साहस और निर्भीकता है। इसके लिए उन्हें उद्दण्ड भी होना पड़ा। उनका यह अक्खड़पन उनको सुहाता भी खूब है। और जब वे अपने उपदेशों को लोक-भाषा में सुनाते थे तब वे अवश्य ही युग निर्माता का रूप धारण कर लेते थे। उनकी व्याकरण शून्य भाषा उस समय सधुक्कड़ी रूप में सब के लिए सुलभ थी। ठीक भी है कि कबीर जब लोकनेता थे तब उनकी भाषा समस्त लोक के लिए थी, उसमें किसी एक प्रान्त का रूप रखना पक्षपात होता। राष्ट्रभाषा की तरह लोक भाषा पर उस समय सभी प्रान्तिय बोलियों का सिक्का जमा हुआ था। सब से गहरी छाप पश्चिमी हिंदी की थी, जो उस समय की लोक-भाषा थी। कबीर के प्रदेश की अवधी और प्रचलित ब्रज-भाषा, उस समय साहित्यिक रचनाओं के लिए अंगीकृत

थी। इसके अतिरिक्त सुधारक कबीर की अक्कड़ता के लिए लोक भाषा ही अनुकूल थी। रमते साधुओं की बोली किसी एक प्रान्त की नहीं होती है, इस कारण कबीर की भाषा का रूप जो है वह तो सामने ही है, पर नाम के अभाव में वह 'सधुक्कड़ी' कही जाकर अपना एक अलग वर्ग बना लेती है।

भक्त, संत, सुधारक कबीर ने लोक-भाषा को महत्त्व देकर 'साखी, सबदी, रमैणी' की रचना की। यह उनकी हमारे हिन्दी साहित्य को देन है। कबीर की उलट बाँसियों ने साहित्य को दूहर तो अवश्य बनाया है पर उनकी देन भी अनूपम ही रही है। सर्व प्रथम तो कबीर ने 'दूहा-साहित्य' को समृद्ध किया। कबीर हिन्दी के आदि काल के वे दूहाकार हैं जो कि शीघ्र ही सर्वप्रिय हो गये। कबीर के दोहे आज हमारे मध्य में कहावतों के रूप में प्रचलित हैं। दोहाकार कबीर बाद के दोहाकारों के अग्रज हैं। कबीर की दूसरी देन है—उनका 'व्यङ्ग'। हिन्दी साहित्य आज भी इस दिशा में सूना पड़ा है। निर्भीक कबीर का अक्कड़-पन जब वाणी द्वारा प्रकट होता था तो बाण सा मर्मभेदी होता था। नावक के तीर से कबीर के व्यङ्ग भी बहुत ही सचोट पड़ते थे। कबीर का व्यङ्ग ही उनके व्यक्तित्व के विकास का कारण है और इसी के कारण उनके चरित में उज्ज्वलता भाषित होती है। मुल्ला को मसजिद में बाँग देते देख कर कबीर कह उठते हैं—

"कांकर पाथर जोरि के मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे (क्या) बहिरा हुआ खोदाय॥"

मुल्ला यदि कह बैठे कि मसजिद में खुदा है, तो कबीर पूछ बैठते —

"और खुदाइ मसीति बसत हैं, और मुलिक किस केरा।"[1]

कबीर काजी के कुरान ज्ञान पर भी धावा बोल देते हैं—

"काजी कौन कतेब बखाँनैं।

पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहीं जांनैं॥"[2]

कबीर चारों वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मण को भी नहीं छोड़ते हैं। कबीर प्रश्न पूछ कर कहते हैं, 'ब्राह्मण सावधान'—

"जे तूँ बांमन बभनी जाया, तौ आंन बाट ह्वै काहे न आया।"[3]

अहिंसावादी कबीर खतना को भारी खून करना समझते हैं। इस प्रथा पर उनका आक्षेप है—

"जे तूँ तुरक तुरकनीं जाया, तौ भीतरि खतनाँ क्यूँ न कराया।"[4]

कबीर का तर्क भले ही शास्त्र सम्मत न हो, पर सहज ज्ञान के लिए वह रामबाण है। शूद्र के अधिकार पर कबीर का उच्च वर्णों से प्रश्न है—

"एक बूँद एकै मल मूतर, एक चाँम एक गूदा।

एक जोति थैं सब उपजनां, कौन बांह्मन कौंन सूदा।"[5]

अवधूतों की मूँडी खोपड़ी को देख कर कबीर तर्क करते हैं—

"मूँड मुँडायैं जौ सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुँची कोई।"[6]

---

१. कबीर ग्रन्थावली (ना० प्र० सभा, काशी) पद २५९। २. वही, पद ५८। ३. वही, पद ४१। ४. वही। ५. वही, पद ५७। ६. वही, पद १३२।

कलहप्रिय जैन श्रावकों की जीव दया पर कबीर का वाद है—

"पाखोसी सू रूसणां, तिल तिल सुख की हांणि।
पंडित भए सरावगी, पांणीं पीवें छांणि॥"[1]

इस प्रकार के व्यङ्ग कबीर में भरे पड़े हैं। कबीर की यह देन हिन्दी साहित्य के लिए अनमोल ही है और सदा रहेगी भी।

सहज ही प्रश्न उठता है कि कबीर की भक्ति का दर्शन क्या है? प्रश्न का उठना आवश्यक भी है क्योंकि भारत में मत-मतान्तर और दर्शन की बारिकियों का लेखा और उनकी नाप-जोख सदा से होती आ रही है। इस विशेषता को कई विद्वान् इस प्रकार कहते हैं कि भारत में दर्शन की खेती होती है। प्रत्येक युग की विभूति अपने तर्क और वाग्चातुर्य से एक नये सम्प्रदाय की सृष्टि कर देती है। कबीर भी एक विभूति है। आज कबीर पंथ कुछ भी कहे पर कबीर का यह ध्येय कभी भी न था। उनका जन्म तो धर्म की सीमित प्राचीर को तोड़ने के लिए हुआ था न कि एक नये मार्ग का निर्माण करने के लिए। उन्होंने किसी भी धर्म ग्रंथ को प्रमाण रूप में नहीं रखा और न किसी ऐसे ग्रन्थ का सृजन ही किया। उनकी विचार धारा को तात्त्विक दृष्टि से देखें तो उसमें न तो अद्वैतवाद पूर्ण रूप से है और न एकेश्वरवाद। इन दोनों का एक मिला जुला भाव इनकी रचनाओं में है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे धर्म गुरु नहीं थे। वे

---

१. वही, साखी १२ पृ० ३७।

धर्मों की अधर्मता का नाश चाहते थे। धर्म के बाह्य भेदों और साधनों का उच्छेद चाहते थे। किसी भी विशेष मत का प्रसार न करके वे ईश्वर में दृढ़ अनुराग और सात्विक जीवन का प्रचार चाहते थे। इस प्रकार कबीर का प्रमुख सुधार व्यक्ति के लिए था। समाज को न सुधारकर वे व्यक्ति को सन्मार्ग का पथिक बनाना चाहते थे। इन्हीं कारणों से कबीर और उनके खेवे के कवि लोक समुदाय को अधिक आकृष्ट कर सके। इन संतों की दृष्टि में 'आँखिन देखी' का महत्व था न कि 'कागद की लेखि' का। इन संतों का व्यक्तित्व उन्हीं के शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—"साईं के जीव हैं कीड़ कुञ्जर दोई" और "हरि को भजे सो हर का होई, जात पाँत नहीं अंतर कोई ॥"

नाम

कबीर एक वास्तविक व्यक्ति थे। पर पंथाई प्रचार से वे इतने अलौकिक प्रदर्शित किए गए कि लोगों को उनकी ऐतिहासिकता में संदेह होने लगा। कबीर के इस स्वर्गीय या ज्योतिर्घन स्वरूप को लखकर विल्सन[1] तथा हसन साहब[2] ने उन्हें कल्पना प्रसूत दिव्य पुरुष ही समझा। पंथाई जीव तो अभी तक उन्हें देहधारी संसारी जीव नहीं मानते हैं। इस धारणा के कारण उनका नाम

---

१ Religious Sects of the Hindus.

(1862) PP. 69.

२ 'उर्दू' सन् १९३० ई०; पृ० २५, २८।

भी चमत्कारी घटनाओं से संबंधित हो गया। कबीर का जन्म कहते हैं कि गुरुप्रसाद के कारण 'कर' अथवा अँगूठे से हो गया और वे कर-वीर अथवा कबीर कहलवाये। ठीक भी है भक्तगण जब अपने आराध्य को मनुष्य ही नहीं मानते हैं तो फिर वह मनुष्य की भाँति क्यों जन्मे? कबीर नामकरण का दूसरा समाधान भी है। जब कबीर के नामकरण का अवसर आया तब काजी ने कुरान खोली तो 'कबीर' शब्द पर दृष्टि पड़ी, पर उसे एक जुलाहे के लड़के का नाम 'कबीर' रखते हुए हिचक मालूम हुई। इस पर कई बार पुनः पुनः कुरान खुलवाया गया। सभी बार 'कबीर' शब्द पर ही काजी की आँख पड़ी। काजी का माथा ठनका; उसने भावी को प्रबल देखकर बालक का नाम कबीर ही रख दिया।

कबीर 'कबीर' के अर्थ से परिचित थे, यह सोचने का हमारे पास आधार भी है। 'कबीर' शब्द अरबी भाषा का है और उसका अर्थ होता है—'सबसे महान'। 'अकबर' शब्द की भाँति 'कबीर' भी ईश्वर का विशेषण है। स्वयं कबीर ने अपनी रचनाओं में 'कबीर' का प्रयोग छाप के अतिरिक्त अर्थ के रूप में भी किया जान पड़ता है। 'कबीर' शब्द जिन रचनाओं में दो बार आया है वहाँ पर इस प्रकार का अथ खोजना अधिक सम्भव है। कबीर ने 'कबीर' का अर्थ कभी तो 'महान ईश्वर' के लिए किया है तो अन्य स्थान पर स्वयं के लिए भी। इन पिछले स्थानों पर 'कबीर' का प्रयोग गर्वोक्ति न होकर 'आत्मा

की महानता' के लिए हुआ है। इन स्थलों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार है—

(१)

'कबीर' मन मृतक भया, दुरबल भया सरीर।
तब पैंडे लागा हरि फिरै, कहत कबीर कबीर ॥[1]

(२)

नां कछु किया न करि सक्या, नां करणें जोग सरीर।
जो कुछ किया सु हरि किया, तार्थें भया 'कबीर' कबीर ॥[2]
'कबीरा' तुही कबीर तू तोरो नाउ कबीरू।
राम रतनु तब पाइअै जउ पहिले तजहि सरीरू ॥[3]

कुछ स्थलों पर 'कबीर' शब्द का प्रयोग आत्म सम्बोधन के लिए भी हुआ है। ऐसे स्थलों में 'कबीर' सर्वनाम ही रहा है। जैसे कबीर अपने आपको कहते हैं कि तन को विरह में फूंक देनेवाला कोई नहीं है। ये ज्ञानांध लोग इस रहस्य को नहीं जानते हैं; यह मैं कूकि कर बराबर कह रहा हूँ। यथा—

कबीर ऐसा को नहीं इह तन देवै फूकि।
अंधा लोगु न जानई रह्यो 'कबीरा' कूकि ॥[4]

उपर्युक्त स्थल पर 'कबीर' का अर्थ तोड़ मोड़कर ईश्वर को

---

१ कबीर ग्रन्थावली, साखी २ पृ० ६४।

२ वही, साखी १ पृ० ६१।

३ वही (परिशिष्ट) साखी १७७ पृ० २६२।

४ क० ग्र० (परिशिष्ट) साखी १४ पृ० २५०।

सम्बोधित हुआ कहा जा सकता है। 'कबीर' शब्द के प्रयोग को चट से हमें प्रामाणिक भी नहीं मान लेना चाहिए क्योंकि सम्भव है कबीर को यह प्रिय न रहा हो। उन्होंने तो ईश्वर संज्ञा के लिए 'राम' को खूब अपनाया है। कहीं-कहीं पाठ की गड़बड़ी के कारण भी ऐसा हुआ है। जैसे 'संत कबीर' का एक अशुद्ध पाठ है—

> कबीर जिह मारगि पंडित गए पाछै-परी वहीर।
> इक अवघट घाटी राम की तिह चढ़ि रहिओ कबीर ॥[1]

इस सलोक (सलोकु ?) का संगत पाठ है—

> जिह मारगि पंडित गए पाछै परी वहीर।
> इक अवघट घाटी राम की तिह चढ़ि रहिओ कबीर ॥[2]

'कबीर' शब्द के अर्थ को हमने देखा। आगे कबीर पंथ पर भी विचार होगा, तब स्पष्ट हो जावेगा कि कबीर और कबीर पंथ, दो विरोधी शब्द हैं।

जाति

कबीर मुसलमान जुलाहा थे। उन्होंने अनगिनत बार अपने आपको जुलाहा सम्बोधित किया है। कई स्थलों पर उन्होंने जुलाहा के साथ अपना नाम भी जोड़ दिया है, यथा—

> जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरौं उदासी।[3]

---

१ संत कबीर, सलोक १६५ पृ० २७२।

२ कं० ग्रं० का पाठ। ३. वही, पद २७०।

इन स्थलों से कबीर मुसलमान जुलाहा ही सिद्ध होते हैं। पर धर्मप्रिय हिंदू हृदय तुरक को इतना सन्मान न दे सका और एक नया मत प्रचलित हुआ कि 'कबीर' तो मुस्लिम उपनाम है, वास्तव में एक विधवा ब्राह्मणी से वे जन्मे थे। कुछ भी हो यह तर्क अधिक देर तक विचार का विषय न रहकर, ओझल हो गया। इसके पश्चात् कबीर को हिन्दू माननेवालों को एक नया सहारा मिला। कबीर ने एकाध स्थल पर अपने आपको 'कोरी' भी कहा है। 'कोरी' हिन्दू जुलाहों को कहते हैं। इस 'कोरी' उल्लेख को लेकर बहुत तूल बाँधा गया और वह फिर ऊभर भी पड़ा है। शोध के क्षेत्र में जब दूर की कौड़ी खोज लाने का ध्येय हो जाता है तब अनुसंधित्सु चमत्कार दिखाने में ही भटक जाता है। कबीर की जाति संबंधि समस्या का पर्यालोचन हम कालक्रम से करेंगे। सर्वप्रथम तो कबीर विधवा ब्राह्मणी से जन्मे होने के कारण हिन्दू माने गए, पर पीपा, रैदास आदि की वाणी के आधार पर यह मत खंडित हो गया। तब कबीर को 'कोरी' (हिन्दू जुलाहा) कहा जाने लगा। इसका आधार कुछ तो अन्तर्साक्ष्य था[1] और कुछ जातियों की उत्पत्ति के इतिहास के सहारे।

---

१. "परहरि कांम रांम कहि बौरे, सुनि सिख बंधू मोरी।
हरि को नांव अभै-पद-दाता, कहै कबीरा कोरी॥"
—क० ग्र०, पद २४६।

डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल कबीर को जुलाहा मुसलमान मानते थे और समय-समयपर अपने पक्ष का डट कर समर्थन भी करते रहे। आगे चल कर उन्होंने 'कोरी' उल्लेख पर ध्यान भी दिया। पर वे 'कोरी' को महत्त्व न दे सके। उनका मत था—"संभव है, 'जोलाहा' कहने से उनका अभिप्राय केवल पेशे से हो, उनके धर्म का उसमें कोई संकेत न हो। जनश्रुतिके अनुसार वे जन्म से तो हिन्दू थे किन्तु पाले-पोसे गए थे मुसलमान के घर में। परन्तु इस बात का प्रमाण मिलता है कि उनका जन्म वस्तुतः मुसलमान परिवार में हुआ था।"[1] आगे चल कर डॉ० बड़थ्वाल का मत पलटा[2] और लिखा कि "मेरी समझ से कबीर भी किसी प्राचीनतया कोरी किन्तु तत्कालीन जुलाहा-कुल के थे जो मुसलमान होने के पहले जोगियों के अनुयायी थे। उनके कुल में यद्यपि बाहर से मुसलमान-धर्म स्वीकार कर लिया गया था फिर भी परम्परागत धर्म से उसका

और—

"जोलाहे घर अपना-चीना घट ही राम पछाना।
कहत कबीर कारगह तोरी, सूतै सूत मिलाये कोरी॥"

—वही (परिशिष्ट) पद ४९।

१. ना० प्र० पत्रिका, काशी, संवत् १९९१ भाग १५ पृ० ४४।

२. The Nirguna School of Hindi Poetry.

—P. D. Barthwal. PP. 250-51।

मानसी सम्बन्ध छूटा नहीं। योग की जो बातें उनके कुल की मानसी-स्थिति का अभिन्न स्वरूप थीं वे छोड़ी भी कैसे जा सकती थीं।"[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी कबीर द्वारा उल्लेखित 'कोरी' पर विचार करते लिखा है—"उत्तर भारत के वयन-जीवियों में कोरी मुख्य हैं। वेन्स जुलाहों को कोरियों की समशील (Corresponding) जाति ही मानते हैं।

कुछ एक पंडितों ने यह भी अनुमान किया है कि मुसलमानी धर्म ग्रहण करनेवाले कोरी ही जुलाहे हैं। यह उल्लेख किया जा सकता है कि कबीरदास जहाँ अपने को बार-बार जुलाहा कहते हैं वहाँ कभी-कभी अपने को कोरी भी कह गए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि कबीरदास के युग में जुलाहों ने मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया था पर साधारण जनता में वे तब भी कोरी नाम से परिचित थे। कबीरदास ने बुनाई के रूपकों और उलटवाँसियों में कई जगह 'जुलाहा' के स्थान पर कोरी नाम लिया है।[2] "किन्तु यह सब होते हुए भी पं० हजारीप्रसाद नहीं मानते कि "कोरियों का ही मुसलमानी संस्करण जुलाहा है।" अपने इस निष्कर्ष का आधार, उक्त विद्वान् के शब्दों में है—"अब तक उपर्युक्त अनुमान का पोषक न तो कोई सामाजिक कारण बताया गया है, न वैज्ञानिक नाप-जोख। इसलिए कोरियों और जुलाहों

१. हरिऔध अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ३८।

२. कबीर, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत, पृ० ५।

को एक ही श्रेणी की दो जातियाँ मान लेने का कोई प्रमाण नहीं।"[1] इस प्रकार 'कोरी' की समस्या का पूर्ण समाधान हो जाता है। डॉ० बड़थ्वाल का यह अनुमान दूसरे दृष्टिकोण से भी विचारा जा सकता था। आप गोरखनाथ के शिष्य हिन्दू और मुसलमान दोनों को मानते हैं।[2] तब वे यदि चाहते थे तो कबीर के परिवार का संबंध ११वीं शती के गोरख अनुयायी मुस्लिम परिवार से जोड़ लेते और कबीर योगी (मुस्लिम) कुल के सिद्ध हो जाते। पर यह दूहर अनुमान आपने कुछ असंगत देख कर ही नहीं किया होगा।

कबीर किस कुल के थे? पर पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी गहन विचार किया है। "ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानों के आने के पहले इस देश में एक ऐसी श्रेणी वर्तमान थी जो ब्राह्मणों से असन्तुष्ट थी और वर्णाश्रम के नियमों की कायल नहीं थी। नाथपंथी योगी ऐसे ही थे......जो हो, इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि उन दिनों नाथ मतावलंबी गृहस्थ योगियों की एक बहुत बड़ी जाति थी जो न हिंदू थी और न मुसलमान। बंगाल की युगी जाति इसी सम्प्रदाय मूलक जाति का भग्नावशेष है। कई बातें ऐसी हैं जो यह सोचने को प्रवृत्त करती हैं कि कबीरदास जिस जुलाहा वंश में पालित हुए थे वह इसी प्रकार के नाथमतावलंबी गृहस्थ योगियों का मुसलमानी रूप था।"

---

१. वही।

२. ना० प्र० पत्रिका, भाग ११ पृ० ३८५ संवत १९८७।

इस धारणा के निम्नलिखित साधन हैं—प्रथम तो कबीरदास ने अपने आप को जुलाहा तो कहा है पर मुसलमान एक बार भी नहीं कहा है। कबीर के "ना-हिंदू ना-मुसलमान" कथन "एक सामाजिक तथ्य की ओर भी इशारा कर रहे हैं। उन दिनों वयन-जीवी नाथ मतावलंबी गृहस्थ योगियों की जाति सचमुच ही ना-हिन्दू ना-मुसलमान थी। कबीरदास ने कम-से-कम एक पद में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि हिंदू और हैं, मुसलमान और है और योगी और हैं क्योंकि योगी या जोगी गोरख गोरख करता है, हिंदू राम राम उच्चारता है और मुसलमान खुदा खुदा कहा करता है।"[1]

जोगी गोरख गोरख करै। हिंदू राम-नाम उच्चरै।
मुसलमान कहै एक खुदाइ। कबीरा को स्वामी घटि घटि रह्यो समाइ॥
—क० ग्र०, पद ३००।

इसके अतिरिक्त "कबीरदास के विषय में प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु के बाद कुछ फूल बच रहे थे जिसमें से आधे को हिंदुओं ने जलाया और आधे को मुसलमानों ने गाड़ दिया। कई पंडितों ने इस बात को करामाती किम्वदन्ती कह कर उड़ा दिया, पर मेरा अनुमान है कि सचमुच ही कबीरदास को (त्रिपुरा जिले के वर्तमान योगियों की भाँति) समाधि भी दी

---

१. कबीर, ह० प्र०, पृ० १०।

गई होगी और उनका अग्निसंस्कार भी किया गया होगा। यदि यह अनुमान सत्य है तो जरा दृढ़ता के साथ ही कहा जा सकता है कि कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले से योगी जैसी किसी आश्रम-भ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी। जोगी जाति का सम्बंध नाथ पंथ से है। जान पड़ता है कबीर के वंश में भी यह नाथ पंथी संस्कार पूरी मात्रा में थे। यदि नाथ पंथी सिद्धान्तों की जानकारी न हो तो कबीर की वाणियों को समझ सकना भी मुश्किल है।"[1]

उपर्युक्त चर्चा में कबीर की कविता में नाथ पंथी संस्कार और उनके शव के संस्कार की घटना के आधार पर उन्हें जुगी (योगी) कुल का अनुमान किया गया है। यह विचारधारा बहुत ही स्पष्ट है पर कई विरोधी बातें उठ खड़ी होती हैं, इस हेतु सहज ग्राह्य नहीं है। प्रथम तो कबीर ने अपने आपको "ना-हिंदू-ना-मुसलमान" कहा होगा, पर इसमें सामाजिक तथ्य की ओर कुछ भी ईशारा नहीं है। कबीर की कविता से सिद्ध हो सकता है कि वे योगी को "ना-हिंदू-ना-मुसलिम" मानते हैं, पर यहाँ पर यह शब्द जातिवाचक कम हैं वरन् धर्म सूचक अधिक हैं। उदाहरण के लिए हिंदू 'राम-राम' उच्चारण न करके 'शिव-शिव' भी करता होगा। मजे की बात यह भी है कि कबीर राम

---

१. वही—पृ० ११।

का उच्चारण भी करते हैं और एक ब्रह्म को भी मानते हैं। इस प्रकार कबीर पर दोनों प्रभाव स्पष्ट है पर योगी का गोरख गोरख कहने का नहीं। इसलिए समस्या को सुलझाने के लिए यह अवतरण (क० ग्रं०, पद ३००?) उपयोगी नहीं है। कबीर ने अपने कुल पर न लिखा होगा क्योंकि उनका ध्येय भी तो इन वर्ग भेदों को तोड़ने का था। पर उनके समयकालीन रैदास, पीपा आदि भक्तों की साक्षी हमें मान्य होनी चाहिए। इनको वाणी तो कबीर के वंश को कट्टर मुस्लिम सिद्ध करती है। भूलना न होगा कि कबीर ने अपने आपको एक स्थान पर 'जिंद' भी कहा है जिससे उनका कुल मुस्लिम ही घोषित होगा। कबीर की वाणियों में नाथ पंथी संस्कार कुल प्रदत्त न मानकर सतसंग प्रदत्त मानना चाहिए। यदि सचमुच में कबीर का वंश, एकाध पुश्त पहले कोई भ्रष्ट योगी कुल का होता तो उनके परिवार में गोवध आदि कट्टर मुस्लिम भावनायें नहीं होतीं। अब रही बात शव संस्कार की विधि की। प्रामाणिक रूप से तो पता नहीं क्या हुआ? और कबीर कहाँ गाड़े गए पर थोड़ी देर के लिए यह घटना मान भी ली जावे कि आधे फूल जलाए गए और आधे गाड़े गए तो इस संस्कार विधि का सम्बन्ध योगियों की प्रथा से जोड़ना असंगत है। कबीर का शव संस्कार कबीर की कुल प्रथा के अनुसार हुआ, यह कोई सिद्ध नहीं कर सकता है। और न कबीर इच्छा ही प्रकट कर गए होंगे कि मेरा अन्तिम संस्कार इस प्रकार करना। कबीर तो अदृश्य हो गए और फूल बच रहे।

इन फूलों का जो भी संस्कार हुआ वह भक्तों की भावना से हुआ न कि कबीर की कुल प्रथा के अनुरूप।

यदि कबीर का शव संस्कार इस प्रकार योगियों द्वारा होता तो हमें अवश्य मान्य होता कि कबीर का अन्तिम संस्कार उनके कुल प्रथा के अनुसार हुआ है। इस करामाती घटना के पश्चात् एक विचित्र घटना भी घटी और वह थी कबीर की कब्र को खुदवाना और उसमें शव का लापता होना। इससे तो जान पड़ता है कि कबीर गाड़े नहीं गए। कुछ उल्लेख यह भी कहते हैं कि कबीर का उस समय दाह संस्कार भी नहीं हुआ क्योंकि वे इस करामाती घटना के पश्चात् ब्रज में धर्मदास से मिले थे। खैर! इन ऐतिह्यों का मूल्य इतना ही है कि कबीर का दाह संस्कार उनकी कुल प्रथा के अनुसार हुआ कहना कठिन है। उनका *अन्तिम संस्कार भक्तों की भावना के अनुरूप ही हुआ होगा।*

डॉ० रामकुमार वर्म्मा कबीर को मुसलमान वंश में उत्पन्न हुआ मानते थे,[1] पर इधर आपका मत भी पलट गया है। आपके "संत कबीर" में आत्मचरित संबंधी अनेक अवतरण हैं और जाति, आजीविका संबंधी उल्लेखों में 'कोरी' का संकेत भी है[2]—

"कहत कबीर कारगह तोरी। सूतै सूत मिलाए कोरी।" (आ० ३६)

---

१. कबीर पदावली (सम्मेलन प्रयाग) पृ० १६।

२. 'संत कबीर', पृ० ५५ (मूलपद पृ० १२६ पर)

डॉ० वर्म्मा ने 'कोरी' से कुछ भी उल्लेखनीय आत्मचरित संबंधी बात नहीं निकाली है, वास्तव में वे इस संबंध में मौन हैं। इस 'कोरी' शब्दवाले पद का अर्थ भी 'संत कबीर' में है।[1] इसका अर्थ एक रूपक है, जो ठीक भी है। 'कोरी' ईश्वर या परमात्मा के लिए आया है, ऐसा डॉ० वर्मा भी मानते हैं, तब यह अवतरण न मालूम क्या आत्मचरित खोज के देगा? जो कि इसे कबीर के जीवन-वृत्त के लिए नोंधा गया। 'संत कबीर' में डॉ० वर्म्मा अंतर्साक्ष्य से निष्कर्ष निकालते हैं कि कबीर का जन्म "ऐसे जुलाहे कुल में हुआ था जिसमें उनके संत-जीवन के लिए विशेष सुविधाएँ थीं। कबीर ने अपने पिता को एक बड़ा गोसांई कहा है। बनारस और उसके आसपास उस समय के गोसांई 'दसनामी' भेद से अपनी उपासना में कहीं शिव और कहीं विष्णु के भक्त होते थे।[2] कबीर के पिता ऐसे जुलाहा जाति में थे जिसमें मुसलमानी संस्कारों के साथ ही साथ शिवोपासक योगियों के भी संस्कार थे और वे किसी शिवोपासक 'दसनामी' संप्रदाय में दीक्षित होने के कारण गोसांई कहलाते थे। इस समय नाथपंथ का प्रभाव इन योगियों पर विशेष रूप से था।"[3] डॉ० वर्मा का निष्कर्ष वही है जो आचार्य हजारी

---

१. वही, (परिशिष्ट) पृ० ४२।

२. हिंदू ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स ऐज रिप्रेजेंटेड ऐट बनारस (पृ० २५५) एम० ए० शेरिंग (१८७१–८२)।

३. संत कबीर, पृ० ६१।

प्रसाद द्विवेदी का है। स्वयं डा० वर्मा का कथन है—"इस संबंध में मैं श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी के मत से सहमत हूँ जिनके अनुसार कबीर जिस जुलाहा वंश में पालित हुए थे 'वह इसी प्रकार के नाथ मतावलंबी गृहस्थ योगियों का मुसलमानी रूप था।'"[1] उपर्युक्त निष्कर्ष डा० वर्म्मा भिन्न प्रकार से निकालते हैं। आप कबीर के पिता को एक बड़ा गोसांई अंतर्साक्ष्य से मानते हैं। और फिर जाति भेद के इतिहास के आधार पर आगे बढ़ते हैं। जाति भेद विषयक कथन तो ठीक है पर कबीर के गुसांई पिता का उल्लेख विचारणीय है। 'संत कबीर' में 'कबीर के पिता गुसांई' संबंधी एक उल्लेख है—

"पिता हमारो बड गोसाईं। तिसु पिता पहिहउ किउ करि जाई।"

और केवल पिता संबंधी दो उल्लेख और हैं, यथा—

"बापि दिलासा मेरो कीन्हा।" और
"बलि तिसु बापै जिनि हउ जाइआ।"

यह तीनों उल्लेख एक ही पद (आ० ३) के हैं। इस हेतु इस महत्त्वपूर्ण पद पर विचार करना चाहिए। पद के तीसरे अंश में पिता और गुसांई का नाता है और पूर्ण पद में यही स्थल कसौटी पर कसने योग्य है—

"पिता हमारो बड गोसाईं।
तिसु पिता पहि हउ किउकरि जाईं॥

१. वही, पृष्ठ ६२।

सतिगुर मिलै त मारगु दिखाइआ।
जगत पिता मेरे मनि भाइआ॥ (रागु आसा ३)'[1]

संत कबीर में इसका अर्थ इस प्रकार है—"हमारा पिता बहुत बड़ा गोसांई (अतीत या जितेंद्रिय) है। मैं (पापी) उस पिता के पास क्योंकर (किस प्रकार) जाऊँ? यदि मुझे सतगुरु मिल जायँ तो वे मेरा पथ-प्रदर्शन कर देंगे विशेष रूप से जब जगत-पिता मेरे मन को अच्छे लगने लगे हैं।"[2] डा० वर्म्मा 'गोसांई' शब्द का अर्थ 'संन्यासी सम्प्रदाय में गुरु या जितेन्द्रिय' करते हैं[3] जो कि सर्वथा लौकिक है। पर उपर्युक्त अवतरण का अर्थ तो अलौकिक पिता के संबंध में ही संगत बैठता है। कविकी शंका है कि "मैं ऐसे पिता के पास कैसे जाऊँ?" कवि इसका समाधान भी करता है कि यदि सतगुरु मिल जावें तो मार्ग ज्ञात हो जावे। कवि उत्सुक है क्योंकि (जगत) पिता उसके मन को भा गए हैं। यह इस पद का सीधा सा अर्थ है। लौकिक पिता के पास पुत्र रहे (एकै ठाहर दुहा बसेरा[4]) और वह पिता के पास जाने के लिए सतगुरु चाहे, बहुत अनोखा मालूम पड़ता है। इस हेतु गुरु का माध्यम, पुत्र

१. संत कबीर, पृ० ९२।

२. वही, (परिशिष्ट) पृ० ३०।

३. वही, (शब्द-कोष) पृ० १३६।

४. वही, पद की १६वीं पंक्ति।

और पिता को क्रमशः भक्त और ईश्वर सिद्ध करते हैं। पद का ईश्वर सम्बंधी ही अर्थ होगा, इसमें कबीर के जीवनवृत्त का तनिक भी सूत्र नहीं है। यदि कबीर के लौकिक पिता गुसांई नहीं है तो उनके कुल को कुछ अन्य मानना उचित नहीं।

डा० वर्म्मा ने इस नई धारणा के प्रथम अपने उन पुराने तर्कों का खंडन भी नहीं किया है जिनके आधार पर आप कबीर को मुस्लिम वंश का मानते आ रहे थे।[1] रैदास और पीपा के पदों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था कि कबीर के वंश में 'सेख सहीद पीर' की आराधना थी और ईद और बकरईद को मनाते थे। इस कुल में गऊ का वध भी होता था। इन उल्लेखों को पूर्ण रूप से प्रामाणिक माना जाता रहा है तब कबीर के पितृगृह में या उनके कुल में उनके संत जीवन के लिए कुछ भी विशष सुविधा नहीं थी।

अब हमें कबीर की जाति और वंश के संबंध में जो तथ्य प्रामाणिक सामग्री से ज्ञात होते हैं, उन्हें शोधना चाहिए। कबीर ने बारबार अपने आपको जुलाहा कहा है। उन्होंने स्पष्ट रूप से अपनी जाति को जुलाहा कहा है। कुछ स्थल यह हैं, यथा—

१. जाति जुलाहा मति कौ धीरे, हरषि हरषि गुण रमे कबीर ॥

—क० ग्रं०, पद १२४।

२. तूं—ब्रांह्मण मै कासी का जुलाहा, चीन्हि न मोरि गियाना ॥

—क० ग्रं०, पद २५०।

---

१. कबीर पदावली, पृ० १५।

रसिकावली' में इस प्रकार का उल्लेख करते भी हैं।[1] इन दंत-कथाओं को काल्पनिक ही मानना चाहिए क्योंकि इतिहास इनको ठीक नहीं मानने देता है। यदि कबीर को जन्मते ही विधवा ने फेंक दिया तो फिर लोगों का यह ज्ञात कैसे हुआ? बहुत सम्भव है कबीर को हिंदू सिद्ध करने को यह क चाल रही होगी और कबीर को दिव्य ठहराने के लिए रामानंद का वरदान पर्याप्त ही है। रामानंद के वरदान का प्रसंग इस कथा से हटा दिया जावे तो यह घटना कबीर को कलंकित करने के लिए रची गई होगी, ऐसा जान पड़ेगा। कुछ भी इस अलौकिक जन्म और ब्राह्मण माँ की सन्तान कबीर को, हम तर्क से नहीं सिद्ध कर सकते। जब कबीर पोष्य पुत्र नहीं हैं तो उन्हें औरस पुत्र क्यों नहीं माना जावे। स्वयं कबीर अपनी माता को संबोधित करते जान पड़ते हैं—"माई को बीनें, करगहि बैठि कबरो नाचे", क्योंकि कबीर तो "रांम रसांइण माते", वे आगे कहते है, "पाई पाई तूं पुतिहाई" अर्थात् तुझको पुत्र उत्पन्न करने का फल मिल गया। इससे कबीर तो औरस पुत्र ही हुए कोई पोष्य नहीं। एक सम्भावना यह भी है कि यदि कबीर पोष्य पुत्र होते और 'राम

१ "प्रभु एक दिन रह ध्यान लगाई। विधवा तिय तिनके ढिग आई॥
प्रभुहिं कियो वंदन बिन दोषा। प्रभु कह पुत्रवती भरि घोषा॥
तब तिय अपनो नाम बखाना। यह विपरीत दियो वरदाना॥
स्वामी कह्यो निकसि मुख आयो। पुत्रवती हरि तोहिं बनायो॥
ह्वै है पुत्र कलंक न लागी। तब सुत ह्वै है हरि अनुरागी॥"

रसाइण माते' रहते तो मुस्लिम जाति उनका रहना दूभर कर देती; भले हो नीमा और नीरू उनको अत्याधिक प्यार करते रहे हों।

कबीर के यवन पिता को गोस्वामी मानने की कल्पना अह्मदशाह तथा की महोदय ने की थी।[1] कबीर के पिता वह्न गोसाई को डॉ० वर्मा ने अब मानना आरम्भ किया है, जिसका उचित समाधान ऊपर हम कर चुके हैं। जब तक विपरीत प्रमाण प्रस्तुत नहीं होते हैं तब तक कबीर को नीमा नीरू का औरस पुत्र मानना ही न्यायानुमोदित है।

जन्म तिथि

कबीर की जन्मतिथि का उल्लेख केवल "कबीर चरित्र बोध" में है, जो कि स्पष्ट रूप से कबीर का जन्म "चौदह सौ पचपन विक्रमी जेष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार" को घोषित करता है।[2] इसके अतिरिक्त पंथ में कई दोहे प्रसिद्ध हैं, जिनमें जन्म संवत वर्णित हैं। कई विद्वानों ने कबीर का काल निर्णय करने का प्रयास किया है। बील, फर्कुहर, हंटर, मेकालिफ, वेसकट, स्मिथ कारपेंटर ग्रियर्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों और भंडारकर आदि भारतीय पंडितों ने कबीर का समय, कबीर सम्बन्धी प्रचलित प्रवादों के आधार पर किया है। इन विद्वानों के मतों का समीक्षण अब उचित भी नहीं है क्योंकि वे सब अनुमान मात्र ही लगा

---

१. कबीर एण्ड हिज फालोवर्स, पृ० २८।

२. प्रकाशक—खेमराज श्रीकृष्णदास संवत १९६३, पृ० ६।

"तोरे भरोसे मगहर बसिओ मेरे तन की तपति बुझाई।
पहले दरसन मगहर पाइओ फुनि कासी बसे आई॥"

इसका अर्थ एक दल तो करता है—कबीर का जन्म मगहर में हुआ और वे फिर काशी में आकर बस गए। दूसरा पक्ष है है—कबीर को ईश्वर का साक्षात्कार प्रथम मगहर में हुआ और वे (तब लौटकर) फिर काशी में आ बसे। प्रथम पक्ष दरसन का अर्थ जन्म लेता है जो कि सर्वथा त्रुटिपूर्ण है। दूसरे पक्ष का समर्थन अन्य कई प्रकार से हो जाता है। प्रस्तुत अवतरण के ऊपर वाली पंक्ति स्पष्ट रूप से कहती जान पड़ती है कि कबीर, परमात्मा के लिए मगहर में बसे थे और साक्षात्कार हो जाने पर पुनः काशी में आकर बस गये (जहाँ से वे पहले गए जान पड़ते हैं)। कबीर पंथ उनका प्राकट्य काशी में मानता है। पंथाई ग्रन्थ बार-बार काशी को ही जन्म स्थान घोषित करते हैं। तुलसी साहब भी इसकी साखी भरते हैं—"कासी नगर कीन्ह कर काया। नूरा नीमा के घर आया।"[1] इस हेतु काशी को ही कबीर का जन्म स्थान मानना चाहिये।

एक नया मत और भी है जो बनारस गजटियर के अनुसार कबीर का जन्म आजमगढ़ जिलेके बैलहटा नाम के गाँव में मानना ठीक समझते हैं। इस पक्ष का तर्क बहुत ही शोधपूर्ण है।[2] आजमगढ़ के पटवारी के कागदों में 'बेलहरा उर्फ बेलहर

---

१. घटरामायण, पृ० १८६।

२. विचार विमर्श, पृ० ५।

पौखर' लिखा मिलता है। यदि 'वेलहर' को जनश्रुति 'लहर' कर दे तो 'लहर पोखर' (काशी का 'लहर तालाव') हो सकता है, जहाँ पर कि कबीर जन्मे पाये गए थे। अभी इस मत पर अन्य विद्वानों का विचार अपेक्षित है। सम्भव है नूतन सामग्री मिलने पर यही मत मान लिया जावेगा।

विवाह

कबीर पंथी लोग तो कबीर को विदेह मानते हैं; तब भला उनको कामिनी से क्या कार्य ? पर पंथाई इतना अवश्य मानते हैं कि लोई नामक एक स्त्री आजन्म अविवाहित रहकर कबीर की सेवा करती रही।[1] लोई का जन्म भी रहस्यमय है। प्रवाद है कि एक वनखंडी वैरागी को ऊनी कपड़ों (लोई) में लपेटी हुई कन्या मिली और उसने उसको पाला पोषा। यही कन्या बड़ी होकर कबीर की प्रतीक्षा करती रही। कबीर अचानक लोई से साक्षात्कार भी करते हैं। भक्तों का दूसरा दल 'लोई' को स्त्रीवाचक न मानकर लोक शब्द का रूपांतर मानते हैं। मुसलिम किंवदंतियों में लोई कबीर की पत्नी मानी गई है। मेकालिफ द्वारा संग्रहीत सिखों की दंतकथाओं में लोई कबीर की स्त्री कही गई है। इन सब प्रकार के प्रवादों से इतना अवश्य निश्चित हो जाता है कि कबीर का लोई से संबंध था। स्वयं कबीर ने लोई का उल्लेख किया है—

१. कबीर वचनावली, हरिऔध संग्रहित, पृ० २०।

"सुनि अंधली लोई वे पीर।
इन्हि मुंडीअन भजि सरन कबीर ॥"[1]

लोई ने कबीर के "राम रस माते" अतिथियों से तंग आकर कुछ सुनाया तो कबीर ने भी लोई को (मुंडीअन) संतों का महत्व समझाया। एक दूसरे पद में कबीर की पत्नी का नाम धनिया पाया जाता है और इसी धनिया का नाम संतों ने रामजनिया रख दिया,[2] यथा—

"मेरी बहुरिया को धनिया नाउ।
ले राख्यो रामजनिया नाउ ॥"

इससे कुछ लोग कबीर का विवाह दो बार हुआ मानते हैं। इस धारणा के पक्ष में एक दोहा भी प्रस्तुत किया जाता है, पर उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। वह दोहा है—

"नारी तो हम भी करी, जाना नाहिं विचार।
जब जाना तब परिहरी, नारी बड़ा विकार ॥"[3]

कबीर की दो पत्नियों के सम्बन्ध में डॉ० रामकुमार वर्मा का अनुमान है कि पहली स्त्री लोई थी जो कुरूप थी और उसमें गार्हस्थ्य के कोई लक्षण नहीं थे। दूसरी स्त्री धनियाँ जिसे लोग रामजनियाँ भी कहते थे संभवतः वेश्या रही हो, अच्छी जाति की और अच्छे लक्षणों से संपन्न थी।[4] इस अनुमान का क्या

१. क० ग्रं० (परिशिष्ट) पद १०९।
२. वही (परिशिष्ट) पद १६७।
३. "चौरासी अंग की साखी", कनक-कामिनी अंग।
४. संत कबीर (प्रस्तावना) पृ० ५९।

आधार है ? पता नहीं। ऐसा सोचना भी परम्परागत लोई संबंधी प्रवादों के भी विपरीत है। लोई की कबीर से खूब पटी होगी। वह आजन्म कबीर के संग रही होगी, तभी तो भक्त लोगों ने उसके जन्म को भी रहस्यमय बना दिया है। ऐसा हो भी क्यों नहीं जब लोई के नायक स्वयं दिव्यपुरुष हैं। इस हेतु लोई को कुरुप और धनिया को तुलना में ठीक लक्षणों वाली नहीं मानने का कोई भी आधार नहीं है।[1] कबीर ने दो विवाह किए या नहीं ? यह प्रश्न इसीलिए उठा है कि कबीर के पद में धनिया नाम आया है। इस पद के संबंध में इतना ही कहना है कि पद में कबीर की माँ यह आरोप करती जान पड़ती है कि साधुओं ने उसका घर धूएँ से भर दिया है और उसकी धनिया बहु का नाम पलट कर रामजनिया रख दिया है। इस आरोप पर कबीर का कथन है "कहत, कबीर सुनहु मेरी माई। इन मुंडीअन मेरी जाति गवाई ॥" कबीर ने दो विवाह तो नहीं किए थे उनमें "कोई भी बात दुनियादारी की नजर नहीं आती है।"[2] वे तो नाहक ब्याह लाये थे। जब इनकी माई की समझ ऐसी

---

१. डॉ० वर्मा जिस पद से यह लौकिक संकेत निकालते हैं, उसका तो वास्तव में अलौकिक अर्थ ही लगाना युक्ति संगत है। पद में माया और भक्ति का रूपक है। इस हेतु इस पद से यह संकेत नहीं निकालना ही भला। स्वयं डॉ० वर्मा इस पद को रूपक ही मानकर अर्थ लगाते भी हैं।

—देखो, 'संत कबीर' (परिशिष्ट) पृ० ४१।

२. कबीर कसौटी, पृ० २१।

थी तो लोगों को क्यों दोष दें? नई सामग्री के अभाव में धनिया एक पहेली ही रहेगी, पर इस संपूर्ण चर्चा से इतना तो कहा जा सकता है कि कबीर विवाहित थे और लोई उनकी पत्नी थी।

संतान

कबीर की परणिता पत्नी से संतान भी हुई। जिस पद में लोई नाम आया है इसी में लोई का कथन है—"लरकी लरिकन खैबो नाहि"; इसके आधार पर कबीर के एक पुत्र और एक पुत्री हुई थी, इतना तो कहा जा सकता है। परम्परा भी ऐसा ही कहती है। एक पद में कबीर ने पुत्र का नाम 'कमाल' दिया है—

"बूड़ा वंश कबीर का उपजे पूत कमाल।"[1]

भक्तों में प्रसिद्ध है कि लड़की का नाम 'कमाली' था। नाम से तो दोनों संतानें मुसलमान ही हैं। कुछ लोग जो कबीर को विदेह मानते हैं, वे कहते हैं कि कबीर ने दो मृतक बालकों को जिलाकर पाला था। यही पोष्य बच्चे कमाल और कमाली थे। कुछ भी हो कबीर के कमाल नामक पुत्र थे, जिनका चलाया एक पंथ, गुजरात में प्रसिद्ध हुआ।

पारिवारिक जीवन

इसमें तो मतभेद नहीं है कि कबीर की आजीविका कपड़ा बुनना था। उनके सर पर सारी गृहस्थी का भार था, क्योंकि ऐसा जान पड़ता है कि उनके पिता का देहांत शीघ्र ही हो गया

---

१ क० ग्रं० (परिशिष्ट) साखी १८५।

था। 'राम रस माते' कबीर सतसंग के फेर में इतना पड़ गए होंगे कि घर पर सदा साधु संतों का जमघट लगा रहता होगा। उनकी माता कबीर के यह रंग-ढंग देखकर अवश्य ही दुःखी रहा करती होगी। 'निपूते' कबीर ने घर के पितरों को छोड़कर राम नाम जपना आरम्भ किया। फलस्वरूप कुल का धर्म (मजहब) छूट गया; उनकी माता को इसका बड़ा शोक हुआ। इसके अतिरिक्त साधुओं के आतिथ्य के कारण घर में गरीबी आ गई होगी और धन की कमाई भी बन्द हो गई थी। कबीर जैसे संतोषी संत निभाव करते ही रहे। समय पड़ने पर उन्होंने अपनी लोई तक को डाँट दिया और कहा कि इन साधुओं (मुंडीअन) के कारण ही तो मुझे भगवान की शरण मिली है। कबीर अपने पुत्र कमाल से संतुष्ट नहीं रहते थे क्योंकि वह संसारी जीव था। व्यासजी (हरिराम) इसकी साखी भरते हैं।[1] कबीर कहते हैं—

"बूड़ा वंस कबीर का उपज्यो पूत कमाल।
हरि का सिमरन छाडि कै घर ले आया माल॥"[2]

आगे चलकर कमाल भी संत हो गए होंगे क्योंकि इनका चलाया संप्रदाय और इनके पद इसकी साक्षी दे सकते हैं। कबीर के कई पदों से लौकिक जीवन चरित्र के अंश खोजे जा सकते हैं, पर पदों की प्रामाणिकता और उनकी रचना में कबीर

---

१. व्यासजी का पद है,—"भक्त न भयौ भक्त को पूत", इसमें एक पंक्ति है;
'बूड्यो वंस कबीर को जब भयौ कमाला पूत"।

२. वही।

का क्या भावार्थ है, पर विचार किए बिना इस प्रकार के अंशों से कुछ भी न ग्रहण करना उचित है। कबीर का संपूर्ण जीवन संघर्ष झेलते ही बीता होगा। उन्हें सारे संसार में दुःख ही दुःख दीख पड़ता है। वे इसे व्यक्त भी कर चुके हैं—

"जदि का माई जनमियां, कहूँ न पाया सुख।
डाली डाली मै फिरौं, पातौं पातौ दुख॥"[1]

कबीर को शिक्षा कुछ भी नहीं मिली होगी। उनका परिवार इसके अनुकूल ही नहीं था। लोग कहते हैं कि स्वयं कबीर ने कहा है—"मसि कागद छुयो नहीं, कलम गही नहीं हाथ।" कुछ भी पुस्तक ज्ञान कबीर प्राप्त न कर सके होंगे। पर वे वर्णमाला से परिचित थे ऐसा सोचने का कारण है।

गुरु

कबीर के कोई गुरु थे और अवश्य थे क्योंकि कबीर की संपूर्ण वाणी एक सतगुरु का होना, ज्ञान के लिए अति आवश्यक समझती है।[2] कबीर गुरु का आदर स्वयं प्रभु से अधिक करना चाहते हैं। कबीर को गुरु से ही ज्ञान मिला था; वे स्वयं कहते हैं—

---

१. क० ग्रं० पृ० ६२ साखी ११।

२. "माया दीपक नर पतँग, भ्रमि भ्रमि इवै पड़ंत।
कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उबरंत॥"
—वही, पृ० ३, साखी २०।

"पीछैं लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि॥"[1]
"भली भई जु गुर मिल्या, नहीं तर होती हांणि।
दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं, पड़ता पूरी जांणि॥"[2]

कबीर के गुरु कौन थे? इस पर बहुत विद्वानों ने अपना मत प्रकट किया है।

१. कबीर-पंथी मुसलमान मानिकपुर के शेख तकी को कबीर का गुरु मानते हैं। मैलकम साहब ने भी इस पक्ष का समर्थन किया है।[3] इस पक्ष को हम अधिक सबल नहीं पाते हैं। डॉ० रामप्रसादजी त्रिपाठी ने भी यही पक्ष अपनाया है।[4] प्रमाण के लिए मौलवी गुलाम सरवर कृत "खजनितुल असफिया" में का उल्लेख प्रकट करते हैं।[5] इस पुस्तक में शेख कबीर जुलाहा को, शेख तकी का उत्तराधिकारी और चेला कहा गया है। इस एक मात्र बाह्य प्रमाण का खंडन कबीर पंथ की परम्परा से ही हो जाता है और रही अंतर्साक्ष्य की बात, सो कबीरकृत पद भी प्रस्तुत किये जाते हैं। एक पद की पंक्ति है—

---

१. वही, पृ० २, साखी ११।

२. वही, पृ० ३, साखी १९।

३. 'कबीर एँड दी कबीर पंथ' पृ० २५-२६।

४. 'हिंदुस्तानी' (त्रैमासिक पत्रिका) सन् १९३२ पृ० २०७-८।

५. कबीर वचनावली पृ० ९।

"घट घट है अविनासी सुनहु तकी तुम सेख ।"

इस वाणी में तो कबीर उपदेश देते हुए जान पड़ते हैं। शेख तकी (मानिकपुर वाले)[1] कबीर के गुरु नहीं हो सकते पर इन उल्लेखों से उनका तकी से सतसंग था, जान पड़ता है। यदि तकी उल्लेखवाले पदों को प्रामाणिक माना जावे तो इतना और जोड़ा जा सकता है कि अन्तिम जीवन में तकी कबीर के शत्रु हो गए थे। इसके अतिरिक्त कबीर के गुरु कई और भी कहे जाते हैं, पर वे सबल प्रमाणों के अभाव में कल्पित अनुमान ही ज्ञात होते हैं।

२. रामानंद कबीर के गुरु थे। यह धारणा वास्तव में एक ऐतिहासिक सत्य है। सम्भव है कबीर की यह साखी इस दिशा में संकेत भी करती है—

"कबीर गुरु बसे बनारसी, सिष समंदां तीर।
बिसार्‌या नहीं बीसरै, जे गुण होइ सरीर॥"[२]

बनारस के गुरु से तात्पर्य रामानंद से निकाला जा सकता है और इसका समर्थन 'तवारीख दबिस्तां' से भी हो जाता है। अकबर कालीन मुहसिन फनी कश्मीरवाला लिखता है कि कबीर रामानंद के शिष्य हुए।[3] कबीर संबंधी जितने भी प्रवाद हैं उन

---

१. दूसरे तकी झूंसी में हुए; जिनकी मृत्यु सं० १४८६ में हुई थी।

२. क० ग्रं० पृ० ६८ साखी २।

३. कबीर वचनावली, पृ० १३।

सबमें कुछ को छोड़कर अन्य रामानंद को गुरु मानते हैं। इस संबंध में अब दो मत नहीं हो सकते क्योंकि स्वयं नाभादास ने 'भक्तमाल' में रामानंद संबंधी पद में इन्हें उनका शिष्य माना है।[1] कबीर के प्रसंग पर टीका लिखते हुए प्रियादास ने रामानंद द्वारा कबीर की दीक्षा की उस नाटकीय घटना का वर्णन किया है। प्रियादास कहते हैं कि जब कबीर के मन में शंका हुई।

देखैं नहिं मुख मेरो मानि कैं मलेछ मोको,
जात न्हान गंग कही मग तन डारियै।
रजनी के शेष में आवेश सों चलत आप,
परै पग राम कहै मंत्र सो विचारियै ॥[2]

परम्परा कहती है कि यह घटना काशी में पंचगंगा घाट पर घटी। कबीर के गुरु रामानंद को नहीं मानने वालों की एक आपत्ति है और वह यह कि "केवल किंवदंती के आधार पर रामानन्द को उनका गुरु मान लेना ठीक नहीं। यह किंवदंती भी ऐतिहासिक जाँच के सामने ठीक नहीं ठहरती। रामानंद जी की मृत्यु अधिक से अधिक देर में मानने से संवत् १४६७ में हुई, इससे १४ या १५ वर्ष पहले भी उसके प्रमाण विद्यमान हैं। उस समय कबीर की अवस्था ११ वर्ष की रही होगी।"[3] यहाँ पर रामानन्द का जन्म संवत् १४५६ माना गया है।

---

१. भक्तमाल (छप्पय ३१)।

२. भक्तमाल (भक्ति सुधा स्वाद तिलक) पृ० ४८७।

३. क. ग्रं. (भूमिका) पृ० २५।

इस संबंध में यही कहना है कि रामानंद का गुरु होना, किंवदंती न होकर ऐतिह्य है जो कि 'तबारिख दबिस्तां' और 'भक्तमाल' द्वारा पूर्ण रूप से समर्थित हो जाता है। पर जो शंका उठाई गई है उसका एक मात्र कारण है—रामानंद के समय के संबंध में विभिन्न मत।[1] इस हेतु समस्या के स्पष्टीकरण के लिए यहाँ पर रामानंद का समय निश्चित करने का प्रयास किया गया है।

रामानंद का समय

अगस्त संहिता में रामानंद का जन्म कलि संवत् ४४०० दिया है। रामनारायणदास कृत हिन्दी भाषांतर में एक दोहा है जो यही काल बताता है, यथा—

"चारि सहस शत चारिभी, नतकलिकाल मलिन।
तेहि अवसर नरलोकहरि, निवसत हितचित्त दीन॥"

कलि संवत् ४४०० अर्थात् ई० सन् १३०० में प्रयाग में रामानन्द का जन्म हुआ। कबीर की जन्म-तिथि हम ऊपर सन् १३९८ (संवत् १४५५) निर्धारित कर चुके हैं। यदि रामानंद ने जैसा कि नाभादास ने लिखा है कि "बहुत काल बपु धारि कै"[2] देह को त्यागा, तो कबीर का शिष्यत्व संभव है। रामानंद ने

१. डॉ० मोहनसिंह भी रामानंद और कबीर को समकालीन नहीं मानते हैं। विशेष के लिए देखिए, "कबीर-हिज बायोग्रोफी", प्रकाशक, आत्माराम एण्ड सन्स, लाहौर।

२. 'भक्तमाल', छप्पय ३१।

यदि १२० वर्ष की बहुत लम्बी आयु पाई तो उनका देहांत सन् १४२० में हुआ होगा। इस समय कबीर की आयु २२ वर्ष थी जो शिष्य होने के लिए उपयुक्त ही है। रामानंद के कबीर शिष्य थे, प्रशिष्य नहीं। नाभादास के छप्पय में संकेत है कि उनके शिष्य और प्रशिष्य बहुत बने। पर छप्पय में जिस प्रकार कबीर को प्रमुख रूप मिला है उससे वे शिष्य थे यही अर्थ निकलता है।[1] प्रमाण के लिए समसामयिक 'तजकीरतुल फुकरा' संज्ञक पुस्तक के उल्लेख को रखा जा सकता है। पुस्तक के रचयिता मौलाना रसीदुद्दीन, रामानंद के द्वादश शिष्यों में कबीर, पीपा और रैदास आदि को विशेष कृपा पात्र मानते हैं।[2] इस समय के पश्चात् का एक और प्रमाण ओड़छेवासी व्यास जी (हरीराम शुक्ल) कृत पद भी है—

---

१. श्री रामानंद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियो।
अनन्तानन्द कबीर सुखा सुरसुरा पद्मावति नरहरि।
पीपा भावानन्द रैदास धना सेन सुरसर की घरहरि।
औरौ शिष्य प्रशिष्य एक तें एक उजागर।
विश्वमंगल आधार सर्वानंद दशधा के आगर।
बहुत काल वपु धारि कै प्रनत जनन कौं पार दियौ।
श्री रामानंद रघुनाथ ज्यौं दुतिय सेतु जग तारन कियौ॥

—भक्तमाल० छ० ३१

२. कल्याण (संत अंक) पृ० ४४५।

"साँचे साधु जु रामानंद।
जिन हरिजी सों हित करि जान्यो, और जानि दुख-दंद।
जाको सेवक कबीर धीर अति सुमति सुरसुरानंद॥"[1]

'बीजक' में कबीर कृत एक पद कहा जाता है जिसमें उन्होंने रामानंद का मरकर परमपद में समा जाना कहा है।[2] इस सम्पूर्ण चर्चा से सन्देह नहीं रह जाता है कि कबीर रामानंद के शिष्य नहीं थे। हमारे पक्ष में जितने भी प्रमाण हैं वे अधिकांश में कबीर और रामानंद के समसामयिक ही हैं।

देशाटन

ज्ञान की खोज और सतसंग के लोभ में विरही कबीर बहुत भ्रमण किए होंगे। शेख तकी की भेंट का उल्लेख ऊपर हो चुका है। तकी का उल्लेख 'घट रामायण' में भी है।[3] यह अपने समय के प्रसिद्ध संत जान पड़ते हैं। कबीर झूँसी, जौनपुर, मानिकपुर आदि स्थानों पर भी गए थे। इसका उल्लेख एक पद में मिलता है।[4] यथा—

"मानिकपुरहि कबीर बसेरी। मदहति सुनी सेख तकि केरी।
ऊजी सुनी जौनपुर थाना। झूँसी सुनि पीरन के नामा॥"

---

१. राधाकृष्ण ग्रन्थावली, प्रथम भाग, पृ० ४५४।

२. बीजक, पद ७७।

३. 'घटरामायण', पृ० ८८।

४. हिंदी साहित्य का इतिहास (संशोधित संस्करण) शुक्ल कृत, पृ० ९२।

कबीर ने अपने एक पद में 'गोमती तीर वासी पीतांबर पीर' का उल्लेख बहुत श्रद्धा से किया है। कबीर इनके निवास स्थान को हज की उपमा तक देते हैं। यथा —

"हज्ज हमारी गोमती तीर। जहाँ बसहि पीताम्बर पीर।
वाहु वाहु क्या खूब गावता है। हरि का नाम मेरे मन भावता है॥"[1]

यह संकेत स्पष्ट रूप से जौनपुर की ओर है। उन दिनों जौनपुर संगीत का केन्द्र बन रहा था। यहाँ के खूब गाने वाले पीर कौन थे ? अभी अनिश्चित है। कुछ लोग कबीर को वृन्दावन और बांधव गढ़ भी गया बताते हैं। श्री किसनसिंह चावड़ा कबीर का गुजरात में भ्रमण भी मानते हैं।[2] इस मत के अनुसार गुजरात में जो कबीर की गद्दियाँ हैं, उनमें सुरक्षित वहियाँ (पंजा) कबीर का सं० १५६४ में गुजरात में आना बताती हैं॥पर कबीर पंथ का प्रचार गुजराज में कबीर की मृत्यु के पश्चात् ही हुआ जान पड़ता है।

सिकन्दर लोदी से संघर्ष

प्रायः सभी लोग कबीर और सिकंदर को समसामयिक मानकर उनकी मुठभेट का उल्लेख करते हैं। दंतकथा इस प्रकार की है कि सिकंदर जब काशी में आया तो हिन्दू और मुसलमान दोनों मिलकर भरी दोपहरी में जलती हुई मशालें लेकर न्याय

---

१. क० ग्रं० (परिशिष्ट) पद २१५।

२. कबीर संप्रदाय (गुजराती) पृ० १४०।

को माँग करते बादशाह के पास पहुँचे। सिकंदर ने तत्काल कबीर को बुलाया पर वे बहुत देर से आये और बिना सलाम किए खड़े रहे। बादशाह ने प्रश्न पूछे तो कबीर ने चमत्कारपूर्ण कूट पदों में उत्तर देकर उनको प्रभावित कर दिया। बादशाह शेख तकी का शिष्य था। तकी के भड़काने पर उसने फिर कबीर को कई प्रकार की अमानुषिक यातनायें दीं, पर कबीर अलौकिक प्रकार से बचते रहे और अन्त में बादशाह सिकंदर लोदी कबीर के पाँवों में पड़ कर क्षमा याचना चाहते, भक्त बन गया। इस दंतकथा को हेर-फेर से कई रूपों में लिखा पाते हैं। कई इतिहास-कार इस घटना को सत्य मानकर इसे अपने-अपने इतिहास में लिखते रहे हैं। फिर इन ग्रन्थों को पढ़कर कुछ अन्वेषक इस घटना को कठोर सत्य मानने लगे हैं। यह घटना दंतकथा नहीं तो ऐतिह्य मात्र हो सकती है, परम्परा यही मानने को कहती है। अब इस ऐतिह्य को इतिहास की कसौटी पर कसकर देखेंगे। कबीर पंथ के ग्रन्थों में जो इस घटना के उल्लेख हैं, उनसे तटस्थ रहकर हमें इतर ग्रन्थों पर विचार करना है। डॉ० रामकुमार वर्म्मा कहते हैं—"संवत् १७०२ (सन् १६५५) में प्रियादास द्वारा लिखी गई नाभा-दास के भक्तमाल की टीका में कबीर का जीवन-वृत्त विस्तारपूर्वक दिया गया है। इस टीका से यह स्पष्ट होता है कि कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन थे।"[1] भक्तमाल की प्रियादासकृत 'भक्ति रसबोधिनी'

---

१. संत कबीर, पृ० ३३।

टीका संवत् १७०२ में न रची जाकर संवत १७६६ में बनी थी।
टीका को खोलकर उसका अध्ययन किया जावे तो अंतिम छंद के पहलेवाले छंद (६३२) में लिखा है—

"संवत् प्रसिद्ध इस सात सत उनहत्तर
फालगुन ही मास वदी सप्तमी बिताईकै।"

इससे अर्थ निकला कि संवत १७६६ फाल्गुन वदी सप्तमी को, प्रियादास ने टीका बनाकर नारायणदास (नाभादास) की आज्ञा को पूरी किया। यह टीका एक बात में पूर्ण है और वह है प्रियादास के शब्दों में—

"रची कविताई सुखदाई लागै निपट सुहाई
औ सचाई पुनरुचि, लै मिटाई है।
अक्षर मधुरताई अनुप्रास जमकाई,
अति छवि छाई मोद झरी सी लगाई है।"

—टीका का नाम स्वरूप वर्णन।

वास्तव में प्रियादास काव्य की छटा की करामात में अधिक लगे रहे। उन्होंने इतिहास पर बहुत ही कम ध्यान दिया है। टीका की भक्त गाथायें अधिकांश में प्रवाद हैं, उनको तभी ग्रहण करना चाहिये, जब कि वे अन्य सूत्रों से समर्थन पा सकें। इसके पश्चात् की जितनी भी टिकायें बनी वे सभी इस दोष में गहन होती गई हैं। इस हेतु प्रियादास का कथन—

"बिमुखन मुख निंदा सुनि कै सिकंदर ने
पकरि मँगाये आप आये ताहि ठाम है।

कही काजी पाजी सुनो ये महा मिजाजी करौ

सिर कौ झुकाय बादशाह को सलाम है ॥"

सत्य से दूर हो सकता है। प्रियादास ने कबीर को अग्नि में झोंकने, हाथी तले कुचलवाने और जंजीर से बाँधकर नदी में डुबवाने के प्रयत्नों का उल्लेख किया है। कबीर को प्राण रक्षा होते देख, करामात से प्रभावित होकर बादशाह 'कूदि परे गहे पाँव', और याचना की 'प्रभु पै बचाय लीजै, हमै न गजब कीजै, दीजै जोई चाहो गाँव देस नाना भोग हैं', पर कबीर राम नाम की महिमा गाकर 'आये घर जोति'। टीका की सारी घटनावली अलौकिक और चमत्कारपूर्ण है। प्रियादास कबीर के मुँह से कहलवाते हैं—"जंत्र मंत्र आवहीं" यह नितान्त कल्पना है, स्वयं कबीर के उपदेश को टीकाकार समझ नहीं पाया है। इन घटनाओं को किसी भी अंश में सत्य मानें तो दो में से एक बात माननी पड़ेगी। कबीर इन यातनाओं से मर गए या बच गये और यदि बच गए तो बादशाह इनका शिष्य बन गया होगा। पर यह दोनों घटनायें असत्य मानी जा रही हैं, इस हेतु सिकंदर लोदी और कबीर का यह प्रसंग ऐतिहासिक नहीं जान पड़ता है।

कबीर के दो पद पाये जाते हैं, जो 'संत कबीर' में भी हैं।[1] इन पदों को यदि प्रामाणिक माना जावे तो इनमें वर्णित अन्य घटनायें भी प्रामाणिक माननी पड़ेंगी। पर ऐसा सोचा ही क्यों जावे

---

१. 'संत कबीर' पृ० ३५ (या कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०३ और पृ० २८०)।

जब कि पदों का विषय स्पष्ट रूप से चमत्कार के हेतु रचा ज्ञात होता है। इन घटनाओं को पढ़कर सहज में ही भक्त प्रह्लाद का स्मरण आ जाता है जो कि इसी प्रकार की यातनाओं से बचता गया और राम नाम की महिमा गाता रहा। अन्य इतर ग्रंथों के प्रमाण के अभाव में, बादशाह सिकंदर लोदी का प्रसंग आप्रामाणिक ही मानने में बाध्य हैं। मजे की बात यह भी है कि पदों में या कबीर रचित साहित्य में कहीं भी सिकंदर लोदी का नाम नहीं है। इस प्रसंग का उद्गम बहुत सम्भव है प्रियादास की टीका हो। डॉ० रामकुमार के पहले के कहे हुए शब्दों में "ऐसे अलौकिक कृत्यों में कहाँ तक सत्यता है, यह संभवतः कोई विश्वास न करे पर महात्मा या संतों के साथ ऐसी कथाओं का जोड़ना आश्चर्यजनक नहीं है।"[1] उपर्युक्त चर्चा से हमें यह नहीं मानना चाहिए कि कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन नहीं थे। वे थे या नहीं का निर्णय कबीर की मृत्यु तिथि ज्ञात होने पर ही कह सकते हैं। सिकंदर लोदी के समसामायिक कबीर को मानकर कबीर का काल निर्णय करना युक्तिसंगत नहीं है।

काशी त्याग

अंत को निकट देख कबीर मगहर (बस्ती जिला) में पहुँच गए। कबीर ने काशी वृद्धावस्था में तजी होगी और उनको तजनी भी पड़ी, पर उनको कुछ भी दुःख नहीं हुआ होगा। कबीर अंधविश्वासों का खंडन अपने जीवन भर करते रहे थे। काशी

---

१. कबीर पदावली (सम्मेलन प्रयाग) पृ० २४।

कही काजी पाजी सुनो ये महा मिजाजी करौ
सिर कौ झुकाय बादशाह को सलाम है ॥"

सत्य से दूर हो सकता है। प्रियादास ने कबीर को अग्नि में झोंकने, हाथी तले कुचलवाने और जंजीर से बाँधकर नदी में डुबवाने के प्रयत्नों का उल्लेख किया है। कबीर की प्राण रक्षा होते देख, करामात से प्रभावित होकर बादशाह 'कूदि परे गहे पाँव', और याचना की 'प्रभु पै बचाय लीजै, हमै न गजब कीजै, दीजै जोई चाहो गाँव देस नाना भोग हैं', पर कबीर राम नाम की महिमा गाकर 'आये घर जोति'। टीका की सारी घटनावली अलौकिक और चमत्कारपूर्ण है। प्रियादास कबीर के मुँह से कहलवाते हैं—"जंत्र मंत्र आवहीं" यह नितान्त कल्पना है, स्वयं कबीर के उपदेश को टीकाकार समझ नहीं पाया है। इन घटनाओं को किसी भी अंश में सत्य मानें तो दो में से एक बात माननी पड़ेगी। कबीर इन यातनाओं से मर गए या बच गये और यदि बच गए तो बादशाह इनका शिष्य बन गया होगा। पर यह दोनों घटनायें असत्य मानी जा रही हैं, इस हेतु सिकंदर लोदी और कबीर का यह प्रसंग ऐतिहासिक नहीं जान पड़ता है।

कबीर के दो पद पाये जाते हैं, जो 'संत कबीर' में भी हैं।[1] इन पदों को यदि प्रामाणिक माना जावे तो इनमें वर्णित अन्य घटनायें भी प्रामाणिक माननी पड़ेंगी। पर ऐसा सोचा ही क्यों जावे

---

१. 'संत कबीर' पृ० ३५ (या कबीर 'ग्रन्थावली, पृ० २०३ और पृ० २८०)।

जब कि पदों का विषय स्पष्ट रूप से चमत्कार के हेतु रचा ज्ञात होता है। इन घटनाओं को पढ़कर सहज में ही भक्त प्रह्लाद का स्मरण आ जाता है जो कि इसी प्रकार की यातनाओं से बचता गया और राम नाम की महिमा गाता रहा। अन्य इतर ग्रंथों के प्रमाण के अभाव में, बादशाह सिकंदर लोदी का प्रसंग आप्रामाणिक ही मानने में बाध्य हैं। मजे की बात यह भी है कि पदों में या कबीर रचित साहित्य में कहीं भी सिकंदर लोदी का नाम नहीं है। इस प्रसंग का उद्गम बहुत सम्भव है प्रियादास की टीका हो। डॉ० रामकुमार के पहले के कहे हुए शब्दों में "ऐसे अलौकिक कृत्यों में कहाँ तक सत्यता है, यह संभवतः कोई विश्वास न करे पर महात्मा या संतों के साथ ऐसी कथाओं का जोड़ना आश्चर्यजनक नहीं है।"[1] उपर्युक्त चर्चा से हमें यह नहीं मानना चाहिए कि कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन नहीं थे। वे थे या नहीं का निर्णय कबीर की मृत्यु तिथि ज्ञात होने पर ही कह सकते हैं। सिकंदर लोदी के समसामायिक कबीर को मानकर कबीर का काल निर्णय करना युक्तिसंगत नहीं है।

काशी त्याग

अंत को निकट देख कबीर मगहर (बस्ती जिला) में पहुँच गए। कबीर ने काशी वृद्धावस्था में तजी होगी और उनको तजनी भी पड़ी, पर उनको कुछ भी दुःख नहीं हुआ होगा। कबीर अंधविश्वासों का खंडन अपने जीवन भर करते रहे थे। काशी

१. कबीर पदावली (संम्मेलन प्रयाग) पृ० २४।

मुक्तिदायिनी है; वे इस विश्वास को जड़ मूल से उखाड़ने के लिए अपना प्राण वहाँ नहीं तजना चाहते थे। कबीर ने एक ऐसी जगह चुनी जो धर्म के अनुसार विपरीत फलदायिनी मानी जाती थी। "लोक में प्रसिद्ध था कि मगहर में मरनेवाला अगले जन्म में गधा होता है", इसका खंडन करने के लिए कबीर वहाँ पहुँचे। कबीर ने उन लोगों को ईश्वर का चोर कहा है जो काशी छोड़ने से डरते हैं—

वै क्यूँ कासी तजैं मुरारी, तेरी सेवा चोर भये बनवारी।
जोगी जती तपी सन्यासी, मठ देवल वसि परसैं कासी।
तीन वेर जे नित प्रति न्हावैं, काया भींतरि खबरि न पांवैं।
देवल देवल फेर देहीं, नांव निरंजन कबहुँ न लेहीं।
चरन बिरद कासी कौं न देहूँ, कहै कबीर भल नरक जैहूँ।

अंतिम पंक्ति में कबीर अपनी आन भी प्रकट कर देते हैं कि मैं काशी को अपनी 'चरन बिरद' नहीं दे सकता, चाहे भले ही नरक मिले। कबीर ने नरक जाने का सीधा मार्ग, मगहर में मरना समझा। भक्त लोगों ने उनको समझाया भी बहुत होगा। कबीर काशी और मगहर में अन्तर ही नहीं मानते हैं। वे कहते हैं—

"लोगा तुम मति के भोरा।

× × ×

मगहर मरै सो गदहा होय, भल परतीति राम सौं खोय।
मगहर मरे मरन नहि पावे, अनते मरे सो राम लजावे।

का कासी का मगहर ऊसर, हृदय राम बस मोरा।
जो कासी तन तजइ कबीरा, रामहिं कवन निहोरा ॥"[1]

कबीर का मगहरवास उनको कभी भी दुःखदायी नहीं हुआ होगा। उनका यह निर्णय उनके ध्येय को पूर्ण करने के लिए आवश्यक था। काशी तजने का यही कारण होगा, कोई अन्य नहीं। कुछ लोग काजी का कोप या बादशाह सिकंदर का डर इसका कारण बताते हैं, पर यह अटकलें मात्र हैं। पुष्ट प्रमाणों के अभाव में यह नहीं सोचना ही भला। दीर्घ जीवी कबीर का सम्पूर्ण जीवन संघर्ष करते बीता था। हंस आत्मा को देह का जब मोह नहीं तब प्राणों का क्या भय ?

कबीर के एकाध पदों में यह भाव है कि वे सकल जनम शिवपुरी में बीताकर मगहर में मरती बार आ पहुँचना, अपनी मंद बुद्धि का कारण समझते हैं। 'ग्रन्थ साहब' में पद है—

'ज्यों जल छोडि बाहर भयो मीना। पूरब जनम हौं तप का हीना।
अब कहु राम कवन गति मोरी। तजीले बनारस मति भई थोरी।
सकल जन्म सिवपुरी गवाया। मरती बार मगहर उठि आया।
बहुत वर्ष तप कीया कासी। मरन भया मगहर की वासी।
कासी मगहर सम बीचारी। ओछी भगति कैसे उतरसि पारी ?
कहू गुरु गजि सिव सब को जानैं। मुआ कबीर रमत श्री रामै ॥'[2]

---

१. बीजक, शब्द १०३, ठीक इसी भाव वाला और शब्दों में भी मिलता-जुलता पद (संख्या ९२) पृ० २९१ पर 'कबीर ग्रन्थावली' में है।

२. क० ग्रं० (परिशिष्ट) पद १०३।

कबीर के अन्यों पदों के भावों से जब उपर्युक्त पद के भाव से मिलाते हैं तब एक बहुत बड़ा अन्तर ज्ञात पड़ता है। कबीर कभी भी काशी छोड़ते दुःखी नहीं हुए। बहुत सम्भव है यह पद अपभ्रष्ट रूप में अंकित हुआ है। हम गत टिप्पणी में एक ही भाव के दो पदों का संकेत कर चुके हैं, जिनमें से एक का अवश्य अशुद्ध पाठ है। 'मति चोरी' के कारण कबीर ने काशी नहीं छोड़ी ऐसा भी लोग मानते हैं और वे कहते हैं कि काल उनको बहका कर उन्हें मगहर घसीट ले गया। कुछ भी हो कबीर मगहर में प्राण तजने जा पहुँचे थे।

मगहर या मग्गह

प्रियादास अपनी टीका में मगहर न लिखकर मग्गह नाम देते हैं। और लोकोक्ति भी है कि 'मग्गह मरै सो गदहा होय', तब शंका उठती है कि क्या कबीर मग्गह ही तो नहीं गए थे, जहाँ का मरना भी अशुभ होता है। शिवव्रतलाल इस संबंध में लिखते हैं कि कबीर जी 'मगहर में गंगा पार चले आए और पृथ्वी पर लेटकर शरीर का त्याग करना चाहा'।[1] तो कबीर ऐसे मगहर या मग्गह को पहुँचे जो कि गंगा के पार था। मग्गह प्रांत है जो कि गंगा पार कर्मनाशा क्षेत्र के रूप में प्रख्यात है और मगहर बस्ती जिले में ग्राम है। प्रांत और ग्राम का फेरफार है। प्रियादास और कबीरपंथी शिवव्रतलाल प्रांत का उल्लेख करते

१. भक्तमाल (शिव) पृ० २३२।

हैं। कबीर के पदों में तो छपी पोथियाँ 'मगहर' पाठ देती है, पर यह पाठ ही शुद्ध है कहा नहीं जा सकता। मगहर और मगह की पहलें सुलझनी और भी कठिन है क्योंकि कबीर की मजार केवल मगहर में ही नहीं वरन कई अन्य स्थानों पर भी बताई जाती है। इस दशा में "मगह" पर खोजी विचार करें, यही मन्तव्य है।

निधन

भक्तों का कथन है, प्रियादास कृत टीका का लेख है और पंथाई ग्रंथ भी घोषित करते हैं कि कबीर ने जब देखा कि उसके शव के लिए कहीं हिन्दू मुस्लिम दंगा न हो जावे, इस हेतु वे कमल के फूल मँगाकर चद्दर ओढ़ कर सो गए। इसी बीच में भक्तों में शव संस्कार के संबंध में कलह आरम्भ हुआ। तब एक साधु ने आकर कहा या भविष्यवाणी हुई कि लड़ो मत चद्दर उठाकर देखो। तत्पश्चात् भक्तों ने फूल बाँट लिए और उनका संस्कार अपने मत के अनुसार कर लिया। इन फूलों का संस्कार कहाँ हुआ ? इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है। यदि यह कहें कि मगहर में मुसलमानों ने शव का संस्कार किया तो बात सहसा मानी नहीं जा सकती क्योंकि प्रथम तो वहाँ पर उस समय हिन्दू राज्य था और मुस्लिम-भक्त बल से ऐसा करने में सफल भी नहीं हुवे होंगे। यदि उन्होंने फूलों को गाड़ा तो, एक घटना और भी घटी जिसमें कि कब्र खोदकर देखा गया तो कुछ

भी नहीं मिला। स्वयं धर्मदास कृत शब्दावली में कब्र संबंधी यह गाथा है, यथा—

"मगहर में एक लीला कीन्हीं, हिंदू तुरुक व्रतधारी।
कब्र खोदाइ के परचा दीन्हीं, मिटि गयो झगरा भारी॥"

इस घटना के अतिरिक्त एक और विचित्र घटना घटी और वह थी; कबीर का फिर भी भ्रमण करते उपदेश देते फिरना।[1] इस निधन के बाद कबीर धर्मदास से मिले; वृन्दावन आदि स्थानों पर भी गए। इससे तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कबीर स्वयं अलोप हो गये या उनका शव तो अवश्य ही अदृश्य कर दिया गया होगा। यही कारण है कि उनकी कब्र, मजार, तुर्बत, रोजा या जो भी कहें का, कई स्थानों में होना बताया जा रहा है।

कब्र

इस सम्बन्ध में कई विभिन्न मत हैं। मगहर में बना मकबरा तो सर्वप्रसिद्ध है ही। कबीर की कब्र वीरसिंह बघेल ने खुदवाकर देखी थी। पर बिजुली खाँ की चाल से बघेल को कुछ नहीं मिला। इस प्रवाद से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम कबीर की कब्र बनाने का प्रयास बिजुली खाँ ने किया होगा। गरीबदास की वाणी है—

---

१. धर्मदास की शब्दावली (जीवन चरित) पृ० ४, तथा बस्ती गजेटियर (१९०७) पृ० २२६–२७ में इस प्रकार के उल्लेख हैं।

"मगहर में तो कब्र बनाई बिजली खान पठाना ।
काशी चौरा उड़ि गया भौंरा दूनों दीन दीवाना ॥"

कहते हैं कि भौंरे से सूचना काशी में कबीरचौरा तक पहुँच गई। यहाँ कबीर के फूलों की भस्म सुरक्षित पड़ी है। फूलों से जहाँ तक हिन्दू संस्कार का सम्बन्ध है इतना तो निश्चित है कि अंतिम अवशेष कबीरचौरा (काशी) में ही रक्षित है। मगहर में यदि कब्र खोदी गई और उसमें कुछ न निकला तो अवश्य ही लोगों की श्रद्धा उस स्थान पर से उठ गई होगी। सम्भव है बहुत काल पश्चात् यह खँडहर लोगों को भा गया और उसको पुनः निर्मित कर दिया गया। इस स्थान पर हिन्दू शैली का एक मन्दिर भी स्मारक स्वरूप कालांतर में खड़ा कर दिया गया। यह दोनों स्मारक बस्ती जिले में मगहर गाँव के बाहर आमी नदी के तट पर हैं। भारतीय पुरातत्त्व विषयक पड़ताल में उल्लेख है कि सन् १४५० (संवत् १५०७) में बिजली खाँ ने कबीरशाह का रौजा, आमी नदी के दाहिने तट पर निर्मित किया। बाद में नवाब फिदाई खाँ ने सन् १५६७ (संवत १६२४) में इस रौजे की मरम्मत कराई।[1] इस प्रकार का निर्देश है तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण पर इस धारणा का क्या आधार है अभी तक ज्ञात नहीं है। इस रौजे पर कोई भी उत्कीर्ण लेख नहीं है। पता नहीं

---

१. 'आरकिआलाजिकल सर्वे अव् इंडिया (न्यू सीरीज) नार्थ वैस्टर्न प्राविसेज, भाग २, पृ० २२४ ।

किस आधार पर डाक्टर फ्यूरर ने यह सूचना प्राप्त की।[१]

आईने अकबरी का रचयिता अबुलफजल ने कबीर की तुर्बत के संबंध में दो प्रवाद दिये हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कबीर मुवाहिद, पुरुषोत्तमपुरी में विश्राम करते हैं।[२] इसी प्रकार का उल्लेख पुरी गजेटियर भी करता है।[३] प्रसिद्ध यात्री टर्वेनियर भी कबीर का गाड़ा जाना जगन्नाथजी के मंदिर के पास, पुरी में बताता है।[४] अबुलफजल अल्लामी अपने ग्रंथ में दूसरे स्थान पर लिखता है कि कबीर की तुर्बत कुछ लोग रतनपुर (अवध सूबे) में बताते हैं।[५] मौलवी शेरअली 'अफसोस' अपनी पुस्तक 'आरायिशे मोहफिल' में लिखते हैं कि रतनपुर में कबीर जुलाहे की कब्र है।[६] कहते हैं कि (Kholassat al Tawarlkh) 'खुलासा तवारिख' में लिखा है कि कबीर की मजार रतनपुर में है। इन विभिन्न मतों के मध्य में कुछ भी निश्चित करने का साधन नहीं है। कुछ खुदाई संबंधी अनुसंधान हो तो इस समस्या को सुलझाने का मार्ग दिखाई पड़ सकता है। तब तक अंतिम रूप से कहा नहीं जा सकता कि कबीर कहाँ विश्राम कर रहे हैं। उनके

---

१. मॉनुमेंटल एेंटिक्विटीज़ ऑव दि नार्थ वेस्टर्न प्रॉविंसेज।

२. आईन-ए-अकबरी (जेरेट द्वारा अनूदित) भाग २, पृ० १२९।

३. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पुरी, पृ० १०४।

४. ट्रेवल्स, भाग २, पृ० २२९।

५. आईन-ए-अकबरी (वही) पृ० १७१।

६. विचारविमर्श (सम्मेलन, प्रयाग), पृ० १३।

संबंध में जो इतने मकबरे प्रसिद्ध हैं, वे क्यों बने ; इस पर अनुमान किया जा सकता है। कबीर का अन्तिम संस्कार अज्ञात समय में हुआ होगा और कुछ लोगों ने (जो कि उस समय उपस्थित रहें होंगे) इस रहस्य को गुप्त ही रखा होगा। पर कबीर या कबीर की देह के लोप होने वाली घटना अलौकिक चमत्कार न होकर लौकिक करामात है। भक्त समुदाय के हाथ, जो फूल पड़े होंगे, वे मुस्लिमों द्वारा गाड़े गए होंगे। सम्भव है यह फूल बँट भी गए हों। श्रद्धावश लोगों ने फूलों को जहाँ-जहाँ गाड़ा वहाँ-वहाँ पर कबीर का स्मारक बनवा दिया। यही स्मारक कालांतर में कब्र के स्वरूप में माने जाने लगे। भगवान बुद्ध के अवशेषों पर अनगिनत स्तूप एशिया भर में बने हैं और सभी ऐसे स्तूपों के गृह मंदिर में अणुमात्र उनकी भस्म अवश्य मिलती है। इन्हीं स्तूपों की विविधता की तरह कबीर के कई स्मारक बने हों तो क्या आश्चर्य ?

मृत्यु तिथि

कबीर का समय निरूपण का सरल मार्ग अभी तक तो यही था कि उनको सिकंदर लोदी का समसामयिक मानकर लगभग तिथि निकाल लें। पर ऊपर हम दिखा चुके हैं कि ऐसा मानना युक्ति संगत नहीं है। गार्सां द तासी अपने इतिहास में लिखते हैं कि अबुलफजल ने लिखा है कि कबीर सिकंदर लोदी के समसामयिक थे।[1] पर डॉ० बड़थ्वाल की शोध है कि 'आईन

---

१. भाग १. पृ. २७५ और भाग २ पृ. ६।

ए अकबरी' के किसी भी संस्करण (ग्लेडविन या ब्लाउचमैन अनूदित) में ऐसा लेख नहीं पाया जाता है। डॉ० फ्यूरर ने सन् १४५० में रोजा बनने का लिखा है, वह प्रमाणों के अभाव में सहसा ऐतिहासिक सत्य नहीं माना जा सकता। कबीर के निधन संबंधी दो दोहे पाये जाते हैं, यथा—

"संवत पंद्रह सौ औ पाँच मौ, मगहर कियो गमन।
अगहन सुदी एकादसी, मिले पवन में पवन ॥"
"संवत पंद्रह सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गवन।
माघ सुदी एकादशी, रलो पवन में पवन ॥"

प्रथम के अनुसार कबीर का परलोकवास संवत १५०५ में और दूसरे दोहे के अनुसार संवत १५७५ में ठहरता है। कबीर की जन्मतिथि ऊपर हम वि० संवत १४५५ निश्चित कर आये हैं। रेवरेंड वेस्टकाट का कथन है कि नानक २७ वर्ष की आयु में अर्थात (१५२६+२७)=१५५३ में कबीर से मिले। पादरी साहब का यह कथन माना भी जा सकता है। नानक पर कबीर का प्रबल प्रभाव है। नानक अपना देश छोड़कर आये भी होंगे तो इसी अवस्था के लगभग। तो कबीर लगभग संवत १५५३ तक जीवित थे और अधिक काल तक संसार में नहीं रहे होंगे, क्योंकि उनको भेंट नानक से पुनः नहीं हुई। कबीर वृद्ध होकर मरे, इस हेतु उनको ९८ वर्ष तक जीवित रहना मानना न्यायोचित है। इतिहासज्ञ बताते हैं कि बादशाह सिकंदर लोदी वि० संवत् १५५१ (सन् १४९४) में काशी आया था।

इसके आगमन के पहले ही कबीर काशी छोड़ चुके होंगे क्योंकि बादशाह कबीर जैसे इस्लाम द्रोही को जीवित नहीं छोड़ता।[1] कबीर के चले जाने पर लोगों ने कबीर पर कायरता आदि का दोषारोपण किया होगा और फलस्वरूप भक्तों ने कबीर और सिकंदर का संघर्ष घड़ कर, कबीर की विजय दुन्दुभी बजा दी। कबीर ने काशी छोड़ा पर अपना गन्तव्य स्थान अपने ध्येय की सिद्धि के लिए मगहर (मगाह ?) चुना। इस प्रकार का अनुमान अन्य ग्रंथ से भी समर्थित हो जाता है। 'भक्ति-सुधा-बिंदु-स्वाद' नामक ग्रन्थ (पृ० ८४०) में लिखा है कि—"श्री कबीरजी संवत १५४९ में मगहर गए, वहीं १५५२ संवत की अगहन सुदी एकादशी को परधाम पहुँचे।"[2] संवत १५५२ में कबीर का निधन मानते हैं तो नानकभेंट की तिथि बाधा डालती है, पर वास्तव में कोई विशेष अड़चन नहीं है क्योंकि वेस्कट साहब का समय निर्देश शायद बावन तोला पाव रत्ती सच्चा न होगा। कबीर संबंधी प्रचलित उपर्युक्त दोनों दोहों में वार न होने से उनको पंचांग की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। इस हेतु उनको संदिग्ध कह कर टाल देते हैं। अतएव कबीर लगभग वि० संवत १४५५ से वि० संवत १५५२ तक भूतल पर रहे।

—o—

१. हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक) अप्रैल १९३२ पृ० २०७–२१० ।

२. कबीर बचनावली (हरिऔध) ना० प्र० सभा, काशी, पृ० २८ ।

भक्ति खंड

युग

कबीर के आविर्भाव के समय जो देशकाल था उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। राजनैतिक स्थिति तो बहुत ही शोचनीय थी। महमूद गजनवी और गोरी के निरंतर आक्रमणों ने देश की अवस्था को जर्जरिभूत कर दिया। गजनवी के संग जो अबुलरैहाँ मुहम्मद इब्न अहमद अलबेरूनी नाम का इतिहासज्ञ आया था, उसने अपनी यात्रा में देश की दशा के करुण चित्र खींचे हैं। अलबेरूनी के शब्दों में 'हिन्दू, लोगों के मुँह पर की पुराने जमाने की एक कहानी मात्र रह गए।' मुहम्मद-बिन-बख्त्यार के विनाशकारी करतबों से हिन्दू जनता कंपित हो गई। मुस्लिम आतंक धीरे-धीरे दक्षिणी भारत को ग्रसने के लिए अग्रसर हो रहा था। तुरकों की विजय का कारण उनकी तलवार तो थी ही पर उनके युद्ध की कूट नीति ने उन्हें अधिक सहायता दी। धर्म-युद्ध और सैनिक-धर्म तो एक दर्शन शास्त्र की सूझ है। इसलिए हिन्दू पराजित मुसलमानों को मुक्त करते छोड़ते गए। क्षमा प्रियता और दया वर्षा ने अंकुर को जड़ से नहीं उखड़ने दिया। फलस्वरूप विपक्षी विषवृक्ष पनपता ही रहा।

कट्टरता, अहम्मन्यता, नृशंसता और काफिरवध उन्हें जन्नत दिला-वेगा आदि भाव और भावनायें मुस्लिम तलवार पर सान चढ़ाती रहीं। विपक्षी प्रबल था और आततायी अपने दर्शन से जड़ीभूत हृदय में पाशविक वृत्ति नहीं ला सका। देश दासता की शृङ्खलाओं में जकड़ा जाने लगा। हिन्दू जाति का वर्णभेद देश की रक्षा करने में असमर्थ होने से नाश में सहाय्यक हुआ। इस पर भी देश की स्वाधीनता के लिए हिन्दू रक्त के बहने में कमी नहीं रही। पर फूट के बीज भी फूट निकले। संघ शक्ति क्षीण होती गई। मुस्लिम संगठन के सन्मुख छिन्न भिन्न हिन्दू शक्तियाँ अपने प्राणों की बलि देने लगीं। अब की बार विजेता लूट पाट कर चले नहीं गए। उन्होंने भारत में बसने की ठानी। विशाल भारत खंड में मुट्ठी भर विदेशी मुस्लिम राज्य नहीं कर पाते, पर नव मुस्लिमों ने उनकी रक्षा की। इस पर भी यह कार्य चिरस्थायी नहीं हो पाता पर एक 'पांचवाँ दल' इन्हें करामाती शक्ति देने में सफल हुआ, जिससे हिन्दू हृदय इनके प्रति अधिक क्षमाशील बनने लगा। हिन्दू विरोध कम होता गया। इसका कारण हिन्दू कायरता या दुर्बलता नहीं थी वरन् भ्रातृप्रेम की हाला और विश्व-बन्धुत्व के राग में वह मोहित किया गया। फलस्वरूप हिन्दू मात्र ने सांसारिक सुख को तृष्णा समझ कर दैहिक कल्याण के लिए भगवान के चरणों में शरण ली।

मुस्लिमों को सहायता देनेवाली यह करामाती शक्ति क्या थी? अभी तक स्पष्ट रूप से इतिहास द्वारा ज्ञात नहीं होती है,

पर कई स्थानों पर हिन्दूओं की पराजय इन्हीं कारणों से हुई।
इस प्रकार के प्रसंग तथा अवसरों का अध्ययन करके ही एक क्रमबद्ध इतिहास उपस्थित किया जा सकता है। अभी तक जो उदाहरण मिले हैं, उनमें से एकाध को प्रकाशित करके हम अपने अनुमान का समर्थन करेंगे। जौनपुर के सैय्यद मुहम्मद पीर, प्रसिद्ध संत कहे जाते हैं। मुरीदों का कहना है कि वे मंहदी के अवतार थे। तत्कालीन मुस्लिम शासक हुसेनशाह 'शर्की का वह गुरु था। संत सब को प्रिय था। हिन्दू मुस्लिम उसकी आँख के तारे थे, पर समय पड़ने पर उसने रुपियों के बल पर हुसनेशाह शर्की के विरोधी डेढ़ हजार वैरागियों को अपनी ओर कर लिया। शेख तकी, सूफी कहे जाते हैं। सिकंदर लोदी के गुरु थे और इनका मुरीद विनाशकारी प्रवृत्तियों से हिन्दू जाति और उसके सांस्कृतिक अंगों को सदा नष्ट करता रहा। इस प्रकार के सूफियों के लिये एक प्रचलित दोहा है—

"फाटा पहने टूका खाय, रावल देवल कहीं न जायँ।
इस घर आई याही रीत, पानी चाहें और मसीत ॥"

कई प्रकार के प्रलोभनों से उच्च वर्ण द्वारा बहिष्कृत क्षुद्र हिन्दू मुस्लिम बनने लगे। हिन्दू जाति का बल सरपट गति से नष्ट होने लगा। तब युग की विभूति ने जन्म लिया। काल प्रसूत रामानंद ने अपने क्रांतिकारी विचारों से हिन्दू जाति को रोग-मुक्त करना चाहा। और निर्गुणवादी संतों के अग्रज और अग्रिम बनने का गौरव इन्हें प्राप्त हुआ। कबीर के गुरु रामानंद

के सुधारों का अध्ययन करने के पहले, इनके पूरवर्ती धर्माचार्यों के आन्दोलनों से परिचित हो जाना चाहिए।

भक्ति आन्दोलन

भागवत पुराण के माहात्म्य (१:४८) से संकेत मिलता है कि भक्ति का जन्म द्राविड़देश में हुआ, कर्णाटक में वह पनपी, महाराष्ट्र में बड़ी हुई और गुजरात में आकर वृद्ध हो गई। इस उल्लेख में इतिहास निहित है कि उत्तरी भारत का भक्ति आंदोलन दक्षिणी भारत की देन है। आलवारों की भक्ति धारा ने द्राविड़ देश और तामिल भाषा को रस से ओतप्रोत कर दिया। आलवारों के पश्चात् आचार्यों का युग आया। प्रथम आचार्य नाथ मुनि हुये। इनके पौत्र आलवान्दर (यामुनाचार्य) हुए। इनके पास विद्याभ्यास के लिए लक्ष्मण नामक एक बालक आया, जो आगे जाकर रामानुज (तामिल में इलयपेरुलम) के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया। यह मत श्री सम्प्रदाय कहलवाया। रामानुज के अनुयायियों में से जो दूसरा वर्ग है, वह शूद्रों के साथ समान भाव रखता है। इस काल के पश्चात् निम्बार्क और मध्व सम्प्रदाय का प्रबल प्रचार रहा और भक्ति लोक में अधिक प्रिय होती गई। श्री ज्ञानेश्वर का जन्म वि० संवत् १३३२ में हुआ। इनके पिता विट्ठल पंत ने विवाहित स्त्री के होते हुए, सन्यास ले लिया, पर वे अधिक काल तक सन्यासी न रह सके और पुनः गृहस्थी बन गए।

पंडित समाज ने इनकी सन्तान को जाति च्युत कर दिया। कर्मठ ब्राह्मणों के हाथों ज्ञानदेव ने बहुत कष्ट उठाया। इसका प्रभाव उनके विचारों पर बहुत भारी पड़ा। गीता पर लिखी भाववोधिनी नामक मराठी टीका में ज्ञानदेव ने कर्म की बहुत हँसी उड़ाकर, भक्ति को योग और ज्ञान से बढ़कर बताया है। उपासना में प्रत्येक वर्ण को समान अधिकार है और ब्राह्मण वर्ग को अवहेलना, इनके मत से ज्ञात पड़ती है। इक्कीस वर्ष की अवस्था में ज्ञानदेव आकंदी गाँव में समाधिस्थ हुए। भक्ति पंथ को ज्ञानेश्वर द्वारा रचित ग्रन्थों का सहारा मिला तो नामदेव ने अभंगों को गाकर भक्ति को प्रचारित किया।

नामदेव का जन्म नरसी ब्राह्मण नामक स्थान में वि० संवत् १३५७ में हुआ था। जाति में छीपा होने के कारण आपको उच्च वर्ण से बराबर संघर्ष लेना पड़ा। पण्ढरपुर के श्रीविट्ठल आपके उपास्य थे। नाभादास ने भक्तमाल में इन पर भगवान द्वारा किए गए उपकारों का उल्लेख किया है, जिनमें से इनकी कुटिया का छप्पर भगवान द्वारा छाया गया सर्वप्रसिद्ध है। नामदेव भ्रमणशील भक्त थे। पञ्जाब में अठारह वर्ष तक रहे। इनका एक मंदिर गुरदासपुर जिले में गुमान नामक स्थान पर आज भी है। इनकी रचनायें हिंदी में भी हैं; वे ग्रन्थ साहब में संग्रहित हैं। नामदेव की भक्ति सगुणोपासना की भी रही थी। एक बार मंदिर में प्रवेश न पा सकने के कारण आप म्लान चित्त होकर मंदिर के पीछे बैठकर गाने लगे। यथा—

"हीन है जाति मेरे यादवराय।
कलि में नामा यहाँ काहे को पठाय॥
पातुरि नाचैं ताल पखावज बाजैं।
हमारी भक्ति बीठल काहे को राजै॥
पांडव प्रभु जू वचन सुनी जै।
नामदेव स्वामी दरशन दीजैं॥"

यह व्यङ्ग सुनकर एक भक्त आपको कंधे पर बिठाकर मंदिर में ले गया। कुछ लोगों का प्रवाद है कि मंदिर का मुँह घूमकर इनकी ओर हो गया। एक बार "सब गोविंद है सब गोबिंद है, गोविंद बिन नहिं कोई", माननेवाले नामदेव की मुठभेड़ प्रेतों के समूह से हो गई। मध्य रात्री को विकराल शरीरधारी भूतों के सन्मुख आपने राग अलापा—

'ऐ आए मेरे लम्बकनाथ।
धरती पाँव स्वर्ग लों माथो जोजन भरि भरि हाथ।
सिव सनकादिक पार न पावें, तैसेइ सखा बिराजत साथ।
नामदेव के स्वामी अन्तर्यामी कीन्हो मोहिं सनाथ॥"

इनके पदों से इनके संत जीवन का परिचय प्राप्त हो जाता है। नामदेव में एक विशेषता है और वह है- व्यङ्ग की जो कि बहुत सम्भव है कबीर ने अपनाकर लोक को अपनी ओर आकर्षित किया। ज्ञानेश्वर के दो शिष्यों में से नामदेव के अतिरिक्त त्रिलोचन भी थे। त्रिलोचन की प्रसिद्धि भी सेवा वृत्ति के कारण बहुत प्रसारित हुई।

इसी काल के लगभग भक्त कवि जयदेव का 'गीतगोविन्द' सर्वप्रिय होने लगा। जयदेव का जन्म केंदुली गाँव (वीरभूम) में भोजदेव और वामादेवी के घर हुआ था। आरम्भिक अवस्था में आप विरक्त होकर भ्रमण करते रहे। तत्पश्चात् आपने पद्मावति नामक ब्राह्मण कन्या से विवाह कर लिया। अपने गुणों के कारण बंगाल के सेनराजा लक्ष्मण सेन की राज्यसभा में पंच रत्नों में से एक थे। जयदेव का आविर्भाव ईसा की बारहवीं शती माना जाता है। इनका वैष्णव धर्म के इतिहास में विशिष्ट स्थान है। १५ वीं और १६ वीं शती के भक्ति आंदोलन पर आपके गीत का बहुत ही असर पड़ा। महाकवि जयदेव नाभादास के शब्दों में चक्रवर्ती महाराज के समान थे और अन्य कवि साधारण राजाओं की भाँति थे। उनके 'गीत गोविंद' का प्रचार तीनों लोकों में हुआ। इस ग्रंथ के विषय में नाभादास का मत है—

"कोक काव्य नवरस सरस सिंगार को सागर।
अष्टपदी अभ्यास करें तेहि बुद्धि बढ़ावैं।
राधारमन प्रसन्न सुनन निश्चय तह आवैं॥"

स्वयं जयदेव ने 'गीत गोविंद' के आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि, "यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्। मधुर कोमलकान्त पदावलीं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥" अर्थात् काम कौतुहल द्वारा प्रभु का स्मरण करना हो तो, इसको पढ़ें। जयदेव का शृंगार वर्णन बहुत ही

खुलकर हुआ है। पर वह लौकिक नहीं माना जाना चाहिये। जयदेव की राधा और गोपियाँ, कृष्ण के प्रेम में अनुरक्त हैं, इसको कुछ लोग रूपक मानकर ईश्वर और आत्मा की रति का वर्णन सिद्ध करते हैं। यह प्रयास उचित नहीं क्योंकि काम भी भारतीय दर्शनशास्त्र में ईश्वर प्राप्ति का साधन है, जिसे जयदेव भी मानते हैं। जयदेव को कबीर ने भक्त माना है और तब के सभी संत उन्हें ऐसा ही समझते हैं। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि सूरदास भक्त माने जाते हैं और माने भी जावेंगे, भले ही उनके पदों में कोककला का और कोक के आसनों का कामशास्त्रीय वर्णन हो। स्वयं कबीर 'काम' द्वारा राम की प्राप्ति करते हैं। जयदेव का गीतगोविंद भक्ति आंदोलन में एक सरस धारा है और वह एकदम नई भी नहीं है क्योंकि इसका उद्गम भागवत वर्णित 'रासपंचाध्यायी' ही तो है।

युग प्रवर्तक रामानंद

रामानंद का समय हम पीछे वि० संवत १३५७ (जन्म काल) निर्धारित कर चुके हैं। इनका जन्म प्रयाग में हुआ माना जाता है। इनके पिता माता पुण्यसदन और सुशीला थीं। जाति में कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। काशी में राघवानंद के यहाँ इन्होंने शिक्षा पाई पर कुछ खटपट के कारण, अपने गुरु से इनको अलग होना पड़ा। मानने को तो लोग इनकी गुरु परम्परा रामानुजाचार्य से राघवानंद तक लाकर इनसे जोड़ते हैं, पर इनके विचार रामानुज सम्प्रदाय से बहुत ही भिन्न और मौलिक हैं।

रामानुज वेदानुकूल भक्ति ब्राह्मण वर्ग के लिए सीमित रखकर, अन्य वर्णों के लिए तान्त्रिक और पौराणिक भक्ति करने को कहते हैं। पर रामानंद ने यह भेद-भाव हटाकर भक्ति को सर्व लोगों के लिए सुलभ कर दिया। उन्होंने शूद्रों और नवमुस्लिमों को हिन्दू जाति में ग्रहण कर उन्हें समान आदर दिया। इसी सुधार के कारण आप युग की विभूति माने जाते हैं। भविष्य पुराण में उल्लेख है कि इनके प्रभाव से इनके एक शिष्य ने अयोध्या के पास कई हज़ार मुसलमानों की शुद्धि करके उन्हें जाति में मिला लिया। भारत में उस समय गयासुद्दीन तुगलक की हिन्दू संहारिणी नीति दमन कर रही थी। रामानन्दाचार्य के उपदेशों से पुनः हिन्दू संघटित होकर दुःख बॅटाकर रहना सीखने लगे। "बहु वपु काल धारी" रामानंद के शिष्य प्रशिष्य बहुत हुए। इनके शिष्यों की संख्या पाँच सौ से अधिक की बताई जाती है। इनके शिष्य 'वैरागी' कहलाते थे और यह 'विरक्त दल' समाज की रक्षा और संगठन में अतुलनीय सहायता दे रहा था। रामानंद दास्य भक्ति के प्रचारक थे। इनका संप्रदाय 'श्री' कहलाया। 'राम' नाम इनका तारक मन्त्र है। इनके अनुयायी 'श्री रामाय नमः' को दीक्षा मंत्र मानकर जप करते हैं।

रामानंद के प्रमुख बारह शिष्य कहे जाते हैं—अनन्तानन्द, कबीर, सुखा, सुरसुरा, पद्मावति, नरहरि, पीपा, भावानंद, रैदास, धना, सेन और सुरसरि। इस संख्या के संबंध में 'भक्तमाल' और 'तजकीरतुलफुकरा' नामक ग्रंथ सहमत हैं।

रामानंद के शिष्यों में वर्ण या जाति का भेद-भाव नहीं है और न पुरुष या स्त्री का। रामानंद रचित कई ग्रन्थ और भाष्य हैं। समाज सुधारक रामानंद की एक और अलौकिक सूझ थी और वह थी भाषा को माध्यम बनाकर उपदेश देना। रामानंद रचित कुछ ही पद प्राप्त हुए हैं पर वे इनकी विचारधारा को स्पष्ट रूप से प्रकट कर सकते हैं। उदाहरण स्वरूप एक पद लीजिये—

"हरि बिन जन्म वृथा खोयो रे।
कहा भयो अति मान बड़ाई, धन मद अंध मति सोयो रे।
अति उतंग तरु देखि सुहायो, सैवल कुसुम सूवा सेयो रे।
सोई फल पुत्र-कलत्र विषै सुख, अन्ति सीस धुनि धुनि रोये रे।
सुमिरन भजन साध की संगति, अन्तरि मन मैल न धोयो रे।
रामानंद रतन जम त्रासैं, श्रीपति पद काहे न जोयो रे॥"

रामानंद का आभार बहुत अधिक है, पर उनके अध्ययन की उपेक्षा अभी तक हो रही है। नाभादास के शब्दों में आपकी सब से बड़ी देन है—

"चारि बरन आश्रम सबही को भक्ति दृढ़ाई"।

रामानंद द्वारा प्रचारित भक्ति नवधा भक्ति से भी बढ़कर 'प्रेम भक्ति' थी। और यही कारण है कि 'भक्तमाल' उन्हें 'भक्ति दशधा के आगर' कहती है।

कबीर-काल

कबीर का प्रादुर्भाव हुआ तब उस समय देशकाल क्या था?

ऊपर संक्षेप में लिखा गया है। कबीर के समय में समाज की क्या अवस्था थी? किस-किस प्रकार के मत-मतान्तर जनता में प्रचलित थे? आदि पर विस्तार से विचार करना चाहिए। इन विषमताओं के मध्य में कबीर की विचारधारा क्या थी? का परिचय जब आगे देंगे तब कबीर का रूप हमारे सन्मुख निखरे हुए रूप में आवेगा। सामाजिक अवस्था को जानने के लिए, कबीर द्वारा वर्णित समाज को खोजना चाहिये। इतर ग्रन्थों से समाज की अवस्था ज्ञात करने की अपेक्षा कबीर द्वारा दिए संकेत अधिक प्रामाणिक और नूतन होंगे।

सर्वप्रथम तो कबीर हिन्दू कर्मकाण्ड और उसके कर्णधार ब्राह्मण वर्ग को लक्षित करते हैं। कबीर की दृष्टि में ब्राह्मण अपने जन्म के कारण उच्च नहीं माना जा सकता। उसकी श्रेष्ठता पर आक्षेप करते कबीर पूछते हैं—

"नहीं को ऊँचा नहीं को नीचा, जाका प्यंड ताही का सींचा।
जे तूँ बाँभन बँभनी जाया, तौ आन बाट ह्वै काहे न आया॥"

—ग्रं०, पद ४१।

बाह्याचारों के लिए कबीर की कई कठोर उक्तियाँ हैं। वे इनकी निःसारता बताते कहते हैं—

"कहा भयौ तिलक गरैं जपमाला, मरम न जानैं मिलन गोपाला।
दिन प्रति पसू करै हरिहाई, गरे काठ वाकी बाँनि न जाई॥"

—ग्रं०, पद १३६।

भगवान तो सर्वव्यापी हैं; वे केवल देवल में ही नहीं हैं। कबीर का कथन है—

"ग्यान बिना देवलि सिर फोड़ै"।—ग्रं०, पद १३५।

मन्दिरों में बँटने वाले प्रसाद और ठाकुरजी के राजभोग को कबीर व्यर्थ समझ कर पुजारी को सम्बोधित करते हैं—

"लुचरी लपसी आप सँवारै, द्वारै ठाढ़ा राम पुकारै"।

—ग्रं०, पद १३५।

परमात्मा की मूर्ति का कुछ भी प्रभाव नहीं है। वह शक्ति-हीन पत्थर मात्र है। कबीर देवल और तीर्थ में पत्थर और पाणी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखते हैं—

"देवलि जाँऊँ तौ देवी देखौं, तीरथि जाँऊँ त पाणी"।

—ग्रं०, पद १९७।

कबीर बहुदेवतावाद का प्रचलन उचित नहीं मानते हैं; उनकी शंका है—

"तीनि देवौं एक मूरति, करै किसकी सेव"—पद १९८।

छूत-छात की दशा पर कबीर ने ध्यान दिया है। रसोई करते समय चौका अशुद्ध न हो कि प्रबल कट्टरता पर कबीर का मत है—

"चौका जूठा, गोबर जूठा, जूठी का दीकारा।
कहै कबीर तेई जन सूचे, जे हरि भजि तजहिं बिकारा॥"—पद २५१।

लोकाचार में फैले हुए अंध-विश्वास को कबीर ने देखा है और उन्होंने व्यङ्ग कसा है—

"जीवत पित्रहि मारहिं डडा, मूंवा पित्र ले घालैं गंगा।
जीवत पित्र कूं अन न ख्वांवैं, मूंवां पीछैं प्यंड भरांवैं ॥"—पद २०७।

कबीर के समाज में सभी हिन्दू मुक्ति के इच्छुक हैं, पर उनका बाह्याचार बहुत जटिल और नाना भेद वाला है, यथा—

"इक जंगम इक जटाधार, इक अंगि बिभूति करै अपार।
इक मूनियर एक मनहूँ लीन, ऐसैं होत होत जग जात खीन।
इक आराधै सकति सीव, इक पड़दा दे दे बधै जीव।
इक कुल देव्यां कौ जपहि जाप, त्रिभवन पति भूले त्रिविधताप।
अंनहि छाडि पीवहि दूध, हरि न मिलै बिन हिरदै सूध।
कहै कबीर ऐसैं विचार, राम बिना को उतरे पार ॥"
—पद ३८०।

समाज की यह अवस्था, संघ शक्ति के लिए विनाशकारी थी। देश पर जब आक्रमणों का ताँता लगा हुआ था तब देश के विभिन्न वर्ग अपने ही हाल में मस्त थे, यथा—

"सब मदिमाते कोई न जाग,
तातैं संग ही चोर घर घुसन लाग।
पंडित माते पढ़ि पुरांन, जोगी माते धरि धियांन।
संन्यासी माते अहंमेव, तपा जु माते तप कै भेव ॥

संत कबीर ने मुसलमानों को भी आड़ों हाथ लिया है। उस समय मुसलमानों में सब से बड़ा जो अवगुण था तो वह उनकी हिंसा थी। गोवध सरपट गति से बढ़ रहा था। मुसलमानों ने वेद और धार्म्मिक ग्रंथों पर छींटा कसी की होगी, तब कबीर को

कहना पड़ा कि वेद और कुरान झूठे नहीं हैं, उनको झूठा कहने वाला ही झूठा है; "वेद कितेब कहो मत झूठे, झूठा जो न विचारैं"। मुल्ला की लम्बी बाँग को सर्वव्यापी ईश्वर के लिए वे व्यर्थ ही समझते हैं। कबीर ने मुस्लिमों की खतना-प्रथा पर कस-कर व्यङ्ग किए हैं। कबीर का तर्क है कि सुन्नत भी एक लोकाचार है इससे व्यर्थ है। यदि खुदा द्वारा यह प्रथा सम्मत होती तो जन्म के पहले ही यह संस्कार वह कर देता। कबीर आगे बढ़ कर कहते हैं कि यदि यह प्रथा आवश्यक है तो स्त्री को क्यों छोड़ते हो; उसको बिना संस्कार के हिन्दू क्यों रखा जाता है—

"हौं तौ तुरक कियै करि सुनति, औरति सौं का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छूटै, आधा हिंदू रहिये॥"

—ग्रं० पद ५९।

कबीर ने नमाज, मसीत, हज आदि पर भी लिखा है। कबीर हिन्दुओं के देवताओं को नाम ले लेकर सारहीन बताते रहे पर हजरत साहब के पेगम्बरी रूप पर वे मौन ही हैं। संकुचित हृदय वाले मुसलमानों के लिए उनकी उक्ति है—

"वे अकली अकलि न जानहीं भूले फिरैं ए लोइ।
दिल दरिया दीदार बिन, भिस्त कहाँ थैं होइ॥"

—ग्रं० पद २३९।

कबीर ने अवधूतों, जैनश्रावकों, नाथपंथियोगियों आदि पर भी संकेत दिए हैं। इन सब पर यथा स्थान लिखा जायगा। अन्तिम के संबंध मे कबीर का व्यङ्ग है—

"क्या सीगी मुद्रा चमकायें, क्या बिभूति सब अंगि लगायें।"

—ग्रं० पद ३५५।

कबीर की विचार धारा

पुस्तक ज्ञान

समाज में जब उपर्युक्त प्रकार की विषमतायें प्रचलित थीं तब कबीर ने भी इनका उचित उपचार शोध निकाला। कबीर ने अपने उद्दण्ड व्यङ्ग से इन भेद भावों को दूर करना चाहा। रामानंद का प्रबल प्रयत्न इस दिशा में चल चुका था। कबीर को अनुकूल वातावरण से बहुत अधिक सहायता मिली होगी। समाज को रोग मुक्त करने के लिए सर्व प्रथम मानव मात्र के हृदय को शुद्ध करना चाहा। सब प्रचलित धर्मों की अधर्मताओं पर उनका प्रहार हुआ। उनको लोक समुदाय को प्रभावित करना था, इस हेतु शास्त्रों का अध्ययन या घोर पांडित्य आवश्यक नहीं था। कबीर का विरोध पण्डितवर्ग ने किया होगा, पर कबीर तो पुस्तक ज्ञान को कुछ भी महत्व नहीं देते हैं। वे तो बार-बार कहते हैं, "पुस्तक देइ बहाइ"। समाज के ज्ञान गरिमा में चूर कर्णधारों को कबीर सम्बोधित करते हैं, कि पढ़ना बुरा नहीं है, पर उससे अच्छा तो राम का जोग है—

"मैं जांन्यूँ पढ़िबौ भलौ, पढ़िबा थैं भलौ जोग।
राम नांम सूँ प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग॥"

—ग्रं० सा० १, पृ० ३८।

कबीर की दृष्टि में—"पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ"। इस हेतु वे मार्ग बताते हैं—

"कबीरा पढ़िबा दूरि करि, पुसतक देइ बहाइ।
बावन अषिर सोधि करि, ररै ममैं चित लाइ॥"

—ग्रं० सा० २, पृ० ३८।

'राम' में चित्त लगावो क्योंकि इस पिय के नाम को, 'पढ़ै सुपंडित होई"।

कबीर वेदपाठी ब्राह्मणों को भी साधुओं से हेय सिद्ध कर देते हैं; यथा—

"ब्राह्मण गुरू जगत का, साधु का गुरू नाहि।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिंइ वेदां माहिं॥"

—ग्रं० सा० १०, पृ० ३६।

पुस्तकज्ञान वालों ने कबीर को जब बढ़ बढ़ कर सुनाई होगी, तब वे क्षुब्ध हो बैठे होंगे और रोष में आकर कह बैठते हैं—

"तूँ कहता है कागद लेखी, मै कहता हूँ आँखिन देखी।"

निर्गुण ब्रह्म

इसके पश्चात् कबीर परमात्मा के निर्गुण रूप की ओर मुड़ते हैं। कबीर ईश्वर तत्व की ओर संकेत करते हैं—

"जाकै मुह माथा नहीं, नहीं रूपक रूप।
पुहुप बास थैं पतला, ऐसा तत अनूप॥"

—ग्रं० सा० ४, पृ० ६०।

अगम अगोचर के भक्त मूर्त्ति पूजा का खंडन बहुत जोरशोर

से मुस्लिम तार्किक की भाँति करते हैं। कबीर का तर्क है कि यदि मूर्ति में शक्ति है तो वह उसको क्यों नहीं नष्ट करती जिसने की उसके ऊपर अपना पाँव रखा था। मूर्त्ति पर जो भी प्रसाद चढ़ता है वह तो पुजारी के भोग लगता है, मूर्त्ति की तो अवज्ञा यों ही होती रहती है—

"टांचण हारै टांचिया, दे छाती ऊपरि पाव।
जे तूं मूरति सकल है, तौ घड़णहारे कौं खाव॥
लाडू लावण लापसी, पूजा चढ़ै अपार।
पूजि पुजारी ले गया, दे मूरति कै मुहि छार॥" —ग्रं० पद १९८

वाह्याडम्बर

मूर्त्ति पूजा के खंडन के साथ कबीर तीर्थों आदि पर भी आक्षेप करते हैं, यथा—

"कासी कांठैं घर करैं, पीवैं निर्मल नीर।
मुकति नहीं हरि नांव बिन, यों कहै दास कबीर॥"
—ग्रं० सा० १९, पृ० ३७।

"मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणी।
दसवां द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछांणी॥"
—ग्रं० सा० १०, पृ० ४४।

कबीर ने तिलक, छापा, माला, भेष आदि पर कई उक्तियाँ लिखी हैं। इस प्रकार की वेशभूषा से उत्तम तो वे शुद्ध हृदयवाले को समझते हैं। भेष आदि को स्वांग मानते हुए कबीर आत्मा का भ्रम भगाने के लिए उपदेश देते हैं—

"भरम न भागा जीव का, अनंतहि धरिया भेप।
सतगुर परचै बाहिरा, अंतरि रह्या अलेष॥"

—ग्रं० सा० १९, पृ० ४७।

मालाधारी अवधूतों के संबंध में कबीर लिखते है कि इस प्रकार तुम्हारे हाथ भक्ति नहीं आवेगी, यथा—

"माला पहर्‍यों कुछ नहीं, भगति न आई हाथि।
माथौ मुंछ मुंडाइ करि, चल्या जगत कै साथि॥"

लम्बे केस बढ़ाकर चलनेवाले साधुओं को भी कबीर कह बैठते हैं—

"सांईं सेंती सांच चलि, औरां सूं सुध भाइ।
भावै लंबे केस करि, भावै घुरडि मुडाइ॥"

मुहूर्त्त आदि पर विश्वास करने वालों पर कबीर का व्यङ्ग है कि ईश्वर के घर का मार्ग तो अति सूक्ष्म है। विरला ही उसे जानता है फिर ये मरनेवाले प्राण तजने के लिए क्यों अवसर खोजते हैं, यथा—

"अगनि जु लागी नीर मै, कंदू जलिया झारि।
उतर दषिण के पंडिता, रहे बिचारि बिचारि॥"

—ग्रं० सा० ५, पृ० ११।

शाक्त निंदा

ज्ञात होता है कि कबीर शाक्तों से खार खाए बैठे हैं। संत इनसे कोसों दूर रहना चाहता है। कबीर ने शाक्तों के मांसाहार,

मद्यपान, नारी पूजा आदि की प्रथाओं पर गहरे हाथ से प्रहार किया है। समाज में शाक्तों के कारण जो चरित्र हीनता और हिंसा छा गई थी, उसे जड़ मूल से नाश करना आवश्यक था। यथा–

"पापी पूजा बैसि करि, भषैं मांस मद दोइ।
तिनकी दष्या मुकति नहीं, कोटि नरक फल होइ॥"
"सकल बरण इकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खांहि।
हरि दासनि की भ्राति करि, केवल जमपुरि जांहि॥"

—ग्रं॰ सा॰ १३, पृ॰ ४३।

कबीर शाक्त की रूढ़ी को जानते हैं। इस हेतु शाक्तों को वे उपदेश तक देने की मनाई करते हैं। यथा—

"राम राम रांम रमि रहिये, साषित सेती भूलि न कहिये।
का सुनहां कौं सुमृत सुनांये, का साषित पै हरि गुन गांये।
का कऊवा कौं कपूर खवांयें, का बिसहर कौं दूध पिलांये।
साषित सुनहां दोऊ भाई, वो नींदै वो भौंकत जाई।
अमृत ले ले नींब स्यंचाई, कहै कबीर वाकी बांनि न जाई॥"

—ग्रं॰ पद २२१।

शाक्तों के प्रति उग्र घृणा होने के कारण ही तो कबीर इच्छा प्रकट करते हैं;

"साषत बांमण मति मिलै, वैसनौं मिलै चँडाल"।

जैन श्रावक

कबीर के काल में जैन श्रावक सम्भव है कलहप्रिय बहुत रहे

होंगे, तभी तो कबीर उनकी अहिंसा पर लक्ष्य करके उनकी झगड़ालू वृत्ति पर विरोधाभास द्वारा ताना मारते है—

"पाड़ोसी सू रूसणों, तिल तिल सुख की हांणि।
पंडित भए सरावगी, पांणीं पीवें छांणि॥"

—ग्रं० सा० १२, पृ० ३७।

कट्टर अहिंसावादी जैन जब वृक्षों के फूल और पत्ते तोड़ता है तो कबीर को यह भी जीव हत्या ही दिख पड़ती है, वे सतर्क करते हैं, यथा—

"जैन जीव की सुधि न जांनें, पाती तोरि देहुरै आंनैं।"
"ताकी हत्या होइ अद्‌भूता, षट दरसन मैं जैंन बिगूता।"

—ग्रं० पृ० २४०।

अन्य

अन्य सम्प्रदायवालों के लिए भी कबीर ने बहुत कुछ कहा है। उन्होंने एक ही पंक्ति में जैन, बौद्ध, शाक्त, सैंनां, चारवाक आदि को लपेट कर उनके भ्रम को लक्षित किया है; यथा—

"अरु भूले षट दरसन भाई, पाखंड भेष रहे लपटाई।
जैंन बोध अरु साकत सैंनां, चारवाक, चतुरंग बिहूंनां॥" —वही।

चौरासी सिद्धों के प्रति भी कबीर की यह सम्मति है, यथा—

"धरती अरु असमान बिचि, दोइ तूंबड़ा अबध।
षट दरसन संसै पड्या, अरू चौरासी सिध॥"

—ग्रं०सा० ११, पृ० ५४।

कबीर के काल में मृगचर्मधारी, नग्न फिरनेवाले, मूड़ मूड़ाये रहनेवाले, पुस्तक ज्ञान के अहंकारी आदि कई भाँति के धर्म के ठेकेदार हो गए थे। उन्होंने इस प्रकार के लोकाचार को धर्म का एक अंग मान रखा था। पर कबीर इसे गौण और व्यर्थ समझते हैं। वे इस प्रकार के विविध वेश भूषाधारी हरि भक्तों को बाह्य रूप की निस्सारता, व्यङ्ग द्वारा समझाते है, यथा—

"का नांगें का बाधे चांम, जौ नहीं चींन्हसि आतम-राम।
नागें फिरें जोग जे होई, बन का मृग मुकति गया कोई।
मूँड़ मुँडायें जो सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुँची कोई।
ब्यंद राखि जे खेलै है भाई, तौ पुसरैं कौण परम गति पाई।
पढ़ें गुनें उपजै अहंकारा, अध धर डूबे वार न पारा।
कहै कबीर सुनहु रे भाई, राम नाम बिन किन सिधि पाई॥"

—ग्रं०, पद १३२

इन लोगों के अतिरिक्त समाज में बगुला भक्त और मधुर-भाषी ठग भी बहुत हो गए थे। कबीर इनसे भी सावधान होने को कह देते हैं, यथा—

"उज्जल देखि न धीजिये, बग ज्यूं माँडै ध्यान।
धीरै बैठि चपेट सी, यूँ लै बूडै ग्यांन॥"

—ग्रं० सा० २, पृ० ४८।

"जेता मीठा बोलणां, तेता साध न जांणि।
पहली थाह दिखाइ करि, ऊँडै देसी आंणि॥"

—ग्रं० सा० ३, पृ० ४९।

वैष्णव

कबीर का अनुराग यदि किसी पर है तो वह है वैष्णव पर। कबीर वैष्णवों के छापा तिलक पर आक्षेप करते हैं। वे उनमें भी विवेक चाहते हैं—

"वैसनों भया तो का भया, बूझा नहीं बवेक।
छापा तिलक बनाइ करि, दग्ध्या लोक अनेक॥"

—ग्रं० सा० १६, पृ० ४६।

कबीर दुराचारी वैष्णवों से हरिजन को उत्तम समझते हैं, "दुराचारी वैश्नौं बुरा, हरिजन तहाँ न जाइ"। इस प्रकार कबीर को वही वैष्णव प्रिय है जो कि विवेकशील और सदाचारी हो। ऐसे ही वैष्णव का जन्म वे धन्य समझते हैं—'कबीर धनि ते सुंदरि, जिनि जाया वैसनौं पूत।" वैष्णव तो कबीर का संगी है, क्यों? इसका कारण उन्हीं के शब्दों में सुनें, यथा—

"मेरे संगी दोइ जणां, एक वैष्णों एक रांम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नांम॥"

तुरक

कबीर जन्म से मुस्लिम थे और उनका कुल भी कट्टर इस्लाम को पालता था। इस हेतु वे इस्लाम से परिचित तो थे ही पर उन्होंने तुर्की धर्म को गहन रूप से समझना चाहा। वे स्वयं कहते हैं; "तुरकी धरम बहुत हम खोजा"। उनकी दृष्टि में इस्लाम हिंसा की आज्ञा नहीं देता है। गोवध के संबंध में

कबीर ने मुस्लिमों से कसकर लोहा लिया होगा, यह उनकी रचनाओं से ज्ञात होता है, यथा—

"गाफिल गरब करैं अधिकाई, स्वारथ अरथि बधैं ए गाई।
जाकौ दूध धार करि पीजै, ता माता कौ बध क्यूँ कीजै।
लहुरैं थकैं दुहि पीया खीरो, ताका अहमक भखै सरीरो॥"

—ग्रं० पृ० २३९।

गो माता के वध को इस्लाम विरोधी जानकर, कबीर डटकर पूछते हैं—

"जब नहीं होते गाइ कसाई। तब बिसमल्ला किनि फुरमाई॥"—वही।

यही प्रश्न कबीर के खुदा भी पूछते हैं—

"कबीर चाल्या जाइ था, आगैं मिल्या खुदाइ।
मीरां मुझ सौ यौं कह्या, किनि फुरमाई गाइ॥"

—ग्रं० सा० २१, पृ० ५२।

गोवध के अतिरिक्त कबीर मुर्गों और बकरी का भी वध अन्याय समझते हैं—

"कुकड़ी मारै बकरी मारै, हक हक करि बोलै।
सबै जीव सांई कै प्यारे, उबरहुगे किस बोलै॥"

—ग्रं० पद ६२।

कबीर तो परमात्मा को घट के भीतर ही मानते हैं। वे उसे दूर खोजने जाना मूर्खता समझते हैं। इसी भाव के आधार पर उन्होंने तीर्थों की निंदा की है। इसी जोश में वे काबा और हज को भी परमात्मा के साक्षात्कार के लिए नगण्य समझते हैं, यथा,

"हज कावै ह्वै ह्वै गया, केती वार कवीर।
मीरां मुझ मैं क्या खता, मुखा न बोलै पीर॥"

—ग्रं० सा० ६ पृ० ८५।

कावा तो दिल के भीतर ही है। कवीर इसे वारवार समझाना चाहते हैं। रोजा और नमाज को भी वे जप-तप की भाँति लोकाचार मात्र मानते हैं।

"रोजा करैं निमाज गुजारैं, क्या हज कावै जायें"—ग्रं० पद २५९।

कवीर का खुदा यदि हज में नहीं है तो वह मसीत में भी नहीं है। कवीर पूछते हैं—

"और खुदाइ मसीति वसत हैं, और मुलिक किस केरा"।

—ग्रं० पद २५९।

मसीत पर खड़े मुल्ला को पूछते हैं—"मुलाँ कहाँ पुकारै दूरि"। कवीर काजी से विचार करने बैठ जाते हैं—

"काजी कौन कतेब वखानैं
पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहीं जांनै।"

काजी उत्तर नहीं दे पाते हैं, तब भी कवीर पूछते रहते हैं कि तुम्हारे पीर, मुरीद, काजी, मुल्ला, दरवेस, मुरसिद आदि कहाँ से आए—

"पीरां मुरीदां काजियां, मुलां अरू दरवेस।
कहाँ थें तुम्ह किनिकीये, अकलि है सब नेस।
कुरानां कतेबां अस पढ़ि पढ़ि, फिकरि या नहीं जाइ।

अलह पाक तूं नापाक क्यूँ, अब दूसर नांहीं कोइ।
कबीर करम करीम का, करनीं करै जाँनैं सोइ॥"

—ग्रं० पद २५७।

कबीर अन्तरात्मा में ज्योति जगाना चाहते हैं। उनके लिए तो शरीर ही कबिला है और मन ही है मक्का। इसी संसार में कबीर दोजख और बिहिश्त को मानते हैं। इस दर्शन को कबीर काजी को पढ़ाते हैं—

"पढ़ि ले काजी बंग निवाजा।
एक मसीति दसौं दरवाजा॥
मन करि मका कबिला करि देही, बोलनहारा जगत गुर येही।
उहा न दोजग भिस्त मुकांमां, इहां हीं रांम इहां रहिमांनां।
बिसमल तांमस भरंम कं दूरी, पंचूं भखि ज्यूँ होइ सबूरी।
कहै कबीर मैं भया दिवांनां, मनवां मुसिमुसि सहजि समाना॥"

—ग्रं० पद ६१।

कबीर ने इस्लाम पर बहुत कुछ लिखा है, पर वे पैगम्बर के संबंध में मौन हैं।

ऐक्य का मार्ग

कबीर की उद्दण्डता या उनकी फटकार सदा धर्मों की अधर्मता के प्रति रही। कबीर इन विषयताओं को हटाकर शुद्ध मानव हृदय को हिलमिलकर रहना सीखाना चाहते थे। थे। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय की सबसे विकट समस्या

हिन्दू मुस्लिम संघर्ष था। कबीर का ऐक्य का मार्ग बड़ा ही मौलिक और सूझ भरा है। उन्होंने आज की तरह दोनों धर्मों की अच्छाइयाँ प्रकट नहीं कीं और न सब धर्मों के अच्छे गुणों को सन्मुख रखा कबीर के तर्क से ज्ञान होता है कि वे सब मत मतान्तरों को मूल रूप में श्रेष्ठ समझते है, पर इनके चारों ओर बाह्याचार का जो घटाटोप घिरे रहता है, वह कबीर के खंडन का विषय था। उन्होंने मूर्त्ति पूजा को बुरा माना है क्योंकि वे ईश्वर को घटवासी मानते हैं। कबीर ने मानव सुलभ विवेक पूर्ण सिद्धान्तों को निश्चय कर लिया और अपने इस मन के विरुद्ध जो उन्होंने देखा, वह सदा टीका टिप्पणी का विषय रहा। कबीर जब किसी पर व्यङ्ग करते हैं तब उनका व्यङ्ग उत्तर होता है उस प्रश्न का जो कि वह मत विशेष वाला उठाता है। मान लीजिए मुल्ला का प्रश्न है कि राम, कृष्ण कौन हैं? तो इसका उत्तर कबीर प्रश्न रूप में देते हैं कि मुरसिद परि कौन हैं? इस विवाद से सिद्ध होता है कि कबीर प्रकट करना चाहते हैं कि सभी धर्मों में कुछ न कुछ अधर्मता जुड़ी हुई है। दर्शन के क्षेत्र में कबीर अधर्मताओं का खंडन करते हैं तो समाज के क्षेत्र में दुराचार का। कबीर की नागरिक शिक्षा समाज सुधार के लिए एक अनुपम औषधि थी। कबीर ने हिन्दू और मुसल-मानों के इन बाह्याचारों को हटाने के लिए दोनों को फटकारा है। उनकी कतिपय रचनायें उदाहरण स्वरूप दी जाती हैं। साम्प्रदायिक बन्धन तोड़ने के लिए कबीर का आदेश है—

"काबा फिर कासी भया, राम भया रहीम।
मोट चून मैदा हुआ, बैठि कबीरा जीम॥"

—ग्रं० सा० १०, पृ० ५४।

"हिंदू मूये राम कहि, मुसलमान खुदाई।
कहै कबीर सो जीवता, दुह मैं करे न जाई॥"

—ग्रं० सा० ७, पृ० ५४।

कबीर के लिए सभी समान है; उनके राम सर्व व्याप्त हैं। हिंदू तुरक का कर्त्ता एक ही है—

"हमारै रांम रहीम करीमा केसो, अलह रांम सति सोई।
बिसमल मेटि बिसम्भर एकै, और न दूजा कोई॥
इनकै काजी मुला पीर पैकंबर, रोजा पछिय निवाजा।
इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा॥
तुरक मसीति देहुरै हिंदू, दहूँठाँ रांम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नांहीं, तहाँ काकी ठकुराई॥
हिंदू तुरक दोऊ रह तू ही, फूटी अरु कनकाई।
अरध अरध दसहूँ दिस जित तित, पूरि रह्या रांम राई॥
कहै कबीरा दास फकीरा, अपनीं रहि चलि भाई।
हिंदू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई॥"

—ग्रं० पद ५६।

कबीर का अंतिम उपदेश तो यही है कि हे बन्दे और हे साधु, यह संसार तो दुःख का घट है, इसमें कुछ भी तत्त्व नहीं है, तूँ बिना अल्लाह या राम की दया से पार नहीं पा सकता—

"दुनियाँ भाँडा दुःख का, भरी मुहाँमुह भूष।
अदवा अलह राम की, कुर है ऊँणी कूष॥"

—ग्रं० सा० ४७, पृ० २५।

इसी से परिचित है, कबीर ने ठाना कि—"हिन्दू तुरक दोऊ समझाऊँ"। सारा संसार उनकी हँसी उड़ाता होगा, पर हरि की अपने ऊपर कृपा जानकर, कबीर सदा निडर रहे—

"कबीरा तूँ काहे डरै, सिर पर हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहीं डोलिये, कूकर भुसैं जुलाव॥"

—ग्रं० सा० १२, पृ० ५४।

सिद्धांत

कबीर क्या नहीं मानते थे? इसकी थोड़ी चर्चा तो ऊपर हो चुकी है। अब हम कबीर द्वारा प्रति पादित सिद्धान्तों पर विचार करेंगे। सर्व प्रथम तो हमें पुनः स्मरण कर लेना चाहिए कि कबीर ने पुस्तक ज्ञान को महत्त्व नहीं दिया था। वे 'कागद लेखी' की उपेक्षा करते थे। शास्त्रों में जो आदेश होते हैं, वे स्पष्ट और नपे तुले होते हैं; सदा एक ही रूप में रहते हैं। पर कबीर के वचन, शास्त्रों के आदेश की भाँति किसी एक रूपरेखा मे सीमित नहीं किये जा सकते। कबीर ने कोई शास्त्र नहीं पढ़ा और न उन्होंने किसी शास्त्र का प्रमाण दिया। कबीर शास्त्र-ज्ञान और शास्त्र-श्रद्धा के विरोधी होने के कारण, किसी शास्त्र के जन्म दाता भी नहीं हैं। उन्होंने तो जगत देखी को कहा और

उनका उपदेश भी सदा सहज रहा। इस हेतु कबीर के जो विचार जीव और जगत के सम्बन्ध में है, वे ही उनके सिद्धान्त माने गये हैं। कबीर की विचार धारा इन तत्त्वों के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रकार की है।

ब्रह्म्जीव

कबीर परमात्मा को अखंड (पूर्ण) और एक मानते हैं। मनुष्य के क्षण भंगुर जीवन के लिए अनेक देवताओं की आराधना करना वे ठीक नहीं समझते है। "एक जनम कै कारणै, कत पूजौ देव सटंसौ रे" (पद १२७) वाले मत को मानने वाले कबीर उपदेश देते हैं कि मनुष्य को मूल पुरुष को भजना चाहिए। मूल पुरुष की साधना से अन्य सब देवी देवता सध जावेंगे। कबीर के शब्दों में, "सींचौ पेड़ पीवैं सब डारी" (प० ११४)। भारतीय वेदांत अद्वैतवाद का पूर्णरूप से समर्थन करता है। केवल अद्वैत को मानने वाले वेदांतियों से कई तर्क कबीर ने भी दिये हैं। प्रतिबिंबवाद के अनुसार ब्रह्मबिंब है और प्रतिबिंब हैं नामरूपात्मक दृश्य जगत। इसको समझाने के लिए कबीर ने कई उदाहरण दिए हैं—

"ज्यूं दरपन प्रतिब्यंब देखिए, आप दवासूं सोई।
संसौ मिट्यौ एक कौ एकै, महा प्रलै जब होई॥
जौ रिझऊं तौ महाकठिन है, बिन रिझयै यें सब खोटी।
कहै कबीर तरक दोइ साधै, ताकी मति है मोटी॥"

—ग्रं० पद ५४।

ब्रह्म से ही नामरूपात्मक दृश्यों की उत्पत्ति होती है और उसी में ही वे समा जाते हैं। वेदांत में "कनक-कुंडल-न्याय" इस सिद्धान्त का प्रमुख उदाहरण है। कबीर भी इस उदाहरण को अपनाते हैं।

"जैसे बहु कंचन के भूषन ये कहि गालि तवावहिंगे।
ऐसे हम लोक वेद के बिछुरे सुनिहि माँहि समायहिंगे॥"

कबीर ने जलतरंग-न्याय को भी अपनाया है। ब्रह्म ही सर्वव्यापी है। बाहर और भीतर वही है। कबीर भारतीय दर्शन की सर्वश्रेष्ठ उक्ति अपने पक्ष में देते है—

"जल मैं कुंभ कुंभ मै जल है, वाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समानाँ, यहु तत कथौ गियानी॥"

यही उक्ति पुनः कबीर शरीर के संबंध में व्यक्त करते हैं— "हरि मैं तन है तन मैं हरि है, है पुंनि नाँहो सोई" (पद २६३)। कबीर ब्रह्म को खोजते उसी में लुप्त हो गए—

"हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समद मैं, सो कत हेरी जाइ॥"

—ग्रं० सा० ३ पृ० १७।

कबीर ब्रह्म को भजने के लिए कहते हैं। इस ब्रह्म का रूप अगम, अगोचर, और सर्वव्यापी है। कबीर इस सत्ता को कई नामों से पुकारते है। ब्रह्म, परमानंद, ज्योति, मुरारी, विश्वनाथ, कृष्ण, सारंगपानि, गोपीनाथ, केशव, राम आदि कई प्रकार के पौराणिक नाम भी कबीर को ग्राह्य हैं। पर कबीर को सब से

प्रिय 'राम' नाम लगा। कबीर के राम निर्गुण हैं। राम नाम तत्त्व सार है—

"कबीर कहै मै कार्य गया, कार्य गया ब्रह्म महेस।
राम नाँव ततसार है, सब काहू उपदेस॥"

—ग्रं० सा० २, पृ० ५।

यहाँ पर 'राम' को मूल माना है। कबीर इस राम की व्याख्या भी करते रहते हैं। उनका कहना है, "राँम नाँम सब कोई बखानै, राँम नाँम का मरम न जानैं (पद २१८)"। राम जाप वाले वैष्णव इस प्रकार कबीर द्वारा भिन्न सिद्ध हो जाते हैं। कबीर तो 'राँम नाँम साचा', मानते हैं और अन्यों को जञ्जाल। उनकी स्पष्टोक्ति है, "एक कहावत मुलां काजी, रांम बिन सब फोकट बाजी"। इस मिथ्या स्वप्न से संसार में कबीर राम नाम का रक्षा-कवच धारण करने को कहते हैं, "रस करि टोप मर्मां करि बखतर, ग्यांन रतन करि बाग दे (पद ३५०)", क्योंकि, "र राँम माँ दोई आखिर सारा, कहै कबीर तिहूँ लोक पियारा (पद २०६)"। ऐसे प्यारे राम को छोड़कर जो बहु-देवों के फेर में पड़ता है, उस पर किसी एक का भी वरदहस्त नहीं रहता है—

"राम पियारा छाडि करि, करै आन का जाप।
वेस्यां केरा पूत ज्यूं, कहै कौन सूं बाप॥"

—ग्रं० सा० ३२, पृ० ६।

राम से अन्यों को भजने वाले को कबीर 'गणिका-पुत्र' कहते

हैं। एक अन्य उपमा द्वारा, कबीर पति रूपी परमेश्वर के होते हुए जब आत्मा रूपी पत्नी अन्य को भजती है, तब उसे व्यभिचार कहा है,—

> कबीर जे को सुंदरी, जाणि करै विभचार।
> ताहि न कबहूँ आदरै, प्रेम पुरिष भरतार ॥"
>
> —ग्रं० सा० २ पृ० ८०।

कबीर निर्गुण ब्रह्म के प्रति कहते हैं, "रूप नांहीं रेख नांहीं मुद्रा नहीं माया (पद २१६)"। इस ब्रह्म का पार पाना कठिन है। ब्रह्म के परात्व को कबीर बहुत स्थलों पर समझाते हैं। पाप पुण्य के परे ब्रह्म की जगमग ज्योति है, पर अगम अगोचर होने के कारण वहाँ पर साधारण जीव का प्रवेश नहीं हो पाता है—

> "अगम अगोचर, गमि नही, तहाँ जगमगै जोति।
> जहाँ कबीरा बंदिगी, (तहाँ) पाप पुन्य नहीं छोति ॥"
>
> —ग्रं० सा० ४, पृ० १२।

ऐसा ब्रह्म, पुस्तक ज्ञान से परे और अति ही गुह्य है,—

> "ऐसा अद्भुत जिनि कथै, अद्भुत राखि लुकाई।
> वेद कुरानौं गमि नाही, कह्याँ न को पतियाई ॥"
>
> —ग्रं० सा० ३, पृ० १८।

संसार और माया

संसार को अंधकारमय, स्वप्नमय, मिथ्या, बाजीगर आदि मानननेवाले कबीर कहते हैं कि आँख खोलकर देखो। समझ वाले होकर ज्ञान से क्यों नहीं संसार का वास्तविक रूप देखते हो,—

"जीवत आँखि मूँदि किन देखौ, संसार अँध अँधेरा (पद २१८)"। जगत को मिथ्या कहते हुए वे इसे केवल बाह्य आकर्षण वाला मानते है,—

"यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के व्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूलि॥"

—ग्रं० सा० १३, पृ० २१।

ऐसे संसार में नर रूपी नाग, "विषै कर्म की कंचुली" (सा० २१ पृ० ४१) पहिन अंधा हुआ फिरता है। मन के वस चलने वाले नर का कबीर एक रूपक द्वारा वर्णन करते हैं—

"काया देवल मन धजा, विषै लहरि फहराइ।
मन चाल्यां देवल चलै, ताका सर्वस जाइ॥"

—ग्रं० सा० २८, पृ० ३०।

मन रूपी रथी "पर-नारी पर-सुंदरि" (सा० ४, पृ० ३६) से बच नहीं पाता है। वह सुन्दरी नारी "खाताँ मीठी खाँड सी, अंति कालि विष होइ"। 'जगत की जूठण (सा० १४ पृ० ४०)' खाकर 'पट-नारी दाता (सा० ३ पृ० ३६)'[1] फिरने वाला काँमिणीं इन्द्री के स्वाद के कारण, राम रूपी हीरा हाथ से खो देता है। 'कामिणीं' के अतिरिक्त 'कनक' के फेर में पड़ कर माया की लपटों में जगत जलता रहता है,—"माया की झल जग जल्या, कनक कांमिणीं लागि (सा० ३२, पृ० ३५)"। यह माया मनुष्य को हरि नाम से विमुख कर देती है—

"कबीर माया पापणीं, हरि सूँ करै हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति, कल्ण न देई राम॥"

—ग्रं० सा० ४ पृ० ३२।

यह माया बड़ी पापनी है, जीव को फँसाने के लिए वह—"फंद ले बैठी हाटि (सा० २, पृ० ३२)"। कबीर सकल संसार को माया युक्त मानते हैं, पर उसे तजते नहीं बनता,—

"माया तजूं तजी नहि जाइ, फिर फिर माया मोहि लपटाइ।
माया आदर माया मांन, माया नहीं तहाँ ब्रह्मगियांन॥
माया रस माला कर जांन, माया कारनि तजै परान।
माया जप तप माया जोग, माया बांधे सबही लोग।
माया जल थलि माया आकासि, माया व्यापि रही चहूँ पासि।
माया माता माया पिता, अति माया अस्तरी सुता।
माया मारि करै व्योहार, कहै कबीर मेरे रांम अधार॥"

—ग्रं० पद ८४।

'सारा खलक खराब' करनेवाली 'सुहाग सुंदरी' माया को कबीर फटकारते हैं—

"हड़ हड़ हड़ हड़ हसती है, दिवांलापनां क्या करती है।
आड़ी तिरछी फिरती है, क्या च्यौं म्यौं म्यौं करती है॥"

—ग्रं० पद १०६।

सबको खानेवाली माया, संतों का कुछ नहीं बिगाड़ सकती—

"कबीर माया डाकणी, सब किसही कौं खाइ।
दांत उपाड़ौं पापणीं, जे संतौं नेड़ी जाइ॥"

—ग्रं० सा० २१, पृ० ३४।

यह "माया दीपक नर पतँग, भ्रमि भ्रमि इवैं पड़ंत।" (सा० २०, पृ० ३) की दशा 'गुर ग्यान थैं", ही सुधर सकती है। माया परम पिता परमेश्वर तक इस प्रकार जीव रूपी पुत्र को पहुँचने नहीं देती है क्योंकि लोभ आकर जीव को भूला देता है—

"पूत पियारो पिता कौं, गौंहनि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गया भलाइ ॥"

—ग्रं० सा० ३१, पृ० १०।

माया संतों को नहीं सताती, वे तो उसके दाँत उखाड़ने में सिद्ध हस्त हैं, इस हेतु माया हाथ बाँधे संतों का कुशल चाहती है—

"माया दासी संत की, ऊँभी देइ असीस।
विलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस ॥"

—ग्रं० सा० १०, पृ० ३३।

३ शरीर

मानव अपने शरीर का बहुत गर्व करता है। उसे सँवारता है, रँगता, सुख में रखता है। अपने सपिण्डों को आदर से रखता है, उनके बल पर गर्व करता है। देह के दर्व में वह भूला फिरता है। कबीर शरीर की नश्वरता को समझाते हुए उसकी तुलना अस्थायी कच्चे घड़े से करते हैं—

"यहु तन काचा कुंभ है, लियां फिरै था, साथि।
ढबका लागा फूटि गया, कछू न आया हाथि ॥"

—ग्रं० सा० ३९, पृ० २५।

इस थोड़ी सी जिंदगी के लिए प्रपंच करना व्यर्थ है। कोई अमर नहीं रहता—

"कबीर थोड़ा जीवणां, माड़े बहुत मँडाण।
सब ही ऊभा मेल्हि गया, राव रंक सुलितान ॥"

—ग्रं० सा० ५ पृ० २१।

कबीर ने 'कूकि' कर चेतावणी दी है कि, "इक दिन ऐसा होइगा, सब सूं पड़ै बिछोह" (सा० ६, पृ० ५१)। समय आने पर नर देह पड़ि रह जावेगी और हंस उड़कर चला जावेगा। इस राख को ही यहीं रहना है—"जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूत"। नश्वर शरीर पर विश्वास न करके, जीव को परमात्मा को खोजना चाहिए। उसे खोजने के लिए—

"कबीर खोजी रांम का, गया जु सिंघल दीप।
रांम तौ घट भीतरि रंमि रह्या, जौ आवै परतीत ॥"

—ग्रं० सा० ४, पृ० ८१।

कबीर को प्रतीत हुआ कि राम दूर नहीं है और न बन बन भटकना चाहिए—"कहै कबीर जाम्या ही चाहिये, क्या गृह क्या बैराग रे (पद ३५०)"। राम की प्राप्ति के लिए बैठने भर का स्थान मिल जाना चाहिए। यह स्थल चाहे कहीं हो, क्योंकि वह तो घट में है, पिंड में है—

"बसै अपिंडी पिंड मैं, ता गति लषै न कोइ।
कहै कबीरा संत हौ, बड़ा अचंभा मोहि ॥"

—ग्रं० सा० २, पृ० १८।

इस हेतु उस सूक्ष्म की पूजा शरीर में ही करनी चाहिये। हृदय मंदिर में वह बसता है, उसका पुजारी भी भीतर ही है और सारा पूजा का विधान भी —

"देवल मांहे देहुरी, तिल जेहै बिसतार।
माहै पाती मांहि जल, मांहै पूजणहार॥"

—ग्रं० सा० ४२, पृ० १५।

साधना

कबीर का मत है—"जे नर जोग जुगति करि जानैं, खोजै आप सरीर (पद ३१७)"। कह तो दिया कबीर ने कि 'घट में है', पर वहाँ पहुँचने का मार्ग बहुत ही दुस्तर और सूक्ष्म है; भोला पथिक उसे भूल जाता है—

"कौण देस कहां आइया, कहु क्यूं जांण्यां जाइ।
उहु मार्ग पावैं नहीं, भूलि पड़े इस मांहिं॥"

—ग्रं० सा० १, ३१।

जीव की तो बात ही क्या वहाँ की दशा तो यह है कि, "सुर नर थाके मुनि जनां, जहां न कोई जाइ (सा० १०, पृ० ३१)"। इसका कारण है "साहिब सूं पर्चा नहीं (सा० ४, पृ० ३१)"। वहाँ पर स्थान क्यों मिले क्योंकि अभी तक जीव ने, "प्रीति न जोड़ी राम सूं, रहण कहां थैं होइ (सा० ३, पृ० ३१)"। मानव प्राणीमात्र को राम से साक्षात्कार करना चाहिए। यह प्रयत्न ही उसकी साधना होगी। कबीर के निर्गुण राम की प्राप्ति के लिए

बहुत ही सहज साधन हैं। उनमें बाह्य आडम्बर नहीं; भेद भाव नहीं। कबीर सर्वप्रथम तो जीव की शुद्धि चाहते हैं। विषय वासनाओं से रहित जीव को समस्त प्राणीमात्र के प्रति समभाव और दया रखनी चाहिए। इस अवस्था में जब वह पहुँच जावेगा तब सतगुरु का उपदेश उसके हृदय में प्रभु विरह दीप्त कर देंगी। वह प्रेम रस में छका, राम जपते, साधु-सेवा करते, अनंत तेज का साक्षात्कार इसी संसार में कर लेगा। घट के भीतर प्रभु को पाने के लिए, कबीर उपदेश देते समय हठयोग का सहारा लेते हैं। इस अवलम्बन से हमें उन्हें योगी नहीं मानना चाहिए। अगले अध्याय में कबीर के हठयोग पर विचार करेंगे। यहाँ पर अब कबीर की साधना के विविध अंगों से अधिक परिचित हो जाना चाहिए।

आत्म-शुद्धि

कबीर मल मल कर न्हाने और पाटाम्बर पहने में काया की शुद्धि नहीं मानते हैं। आन्तरिक शुद्धि के लिए वे सर्वप्रथम तो अहं भाव को तजने के लिए कहते हैं। इस ज्ञान के ज्ञात होते ही चारों ओर प्रकाश हो गया—

> "जब मै था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मै नांहि।
> सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहि॥"
>
> —ग्रं० सा० ३५, पृ० १५।

माया, मोह, पर नारी के त्याग के लिए कबीर ने कई बार

कहा है। भगवान को प्राप्त करने के लिए कठोर साधना की आवश्यकता नहीं है, केवल कुछ तजने पर वे प्राप्त हो सकते हैं—

"हाँसी खेलौं हरि मिलै, तौ कौण सहै खरसान।
काम क्रोध त्रिष्णां तजै, ताहि मिलै भगवान॥"

—ग्रं० सा० ३०, पृ० १०।

कबीर चाहते हैं मनुष्य इतना नम्र बन जावे कि वह सबकी ठोकरें खाकर भी चुप-चाप पड़ा रहे। धरती की भाँति वह भी रोड़ा बनकर दुःख सहे—

"रोड़ा है रहौ बाट का, तजि पाषँड अभिमान।
ऐसा जे जन है रहै, ताहि मिलै भगवान॥"

—ग्रं० सा० १४, पृ० ६५।

प्राणी को चाहिए कि वह दूसरे की निंदा न करे और अपने तत्व के दोषों को सोचे—

"दोख पराये देखि करि, चल्या हसंत हसंत।
अपने च्यंति न कावई, जिनकी आदि न अंत॥"

—ग्रं० सा० २, पृ० ८२।

आत्मशुद्धि हो जाने पर सम्पूर्ण संसार के साथी सच्चे ही मिलेंगे। जैसी आत्मा होगी, उसे वैसा ही संगी मिलेगा। कबीर जगत में झूठों का भी अस्तित्व मानते हैं, पर वे सच्चों के साथी नहीं बन पाते इस हेतु प्रथम अपने आप को सच्चा बनाना चाहिए—

"झूठे कौं झूठा मिलै, दूणां बधै सनेह।
झूठे कूं साचा मिलै, तब ही तूटे नेह॥"
—ग्रं० सा० १७, पृ० ४१।

कबीर का कथन कितना सचोट है—"मन दीया मन पाइए (सा० ६, पृ० २८)"। वैराग्य को मन में जमाना चाहिए, उसी से मन की विरक्ति होती है—

"गांवण ही मैं रोव है, रोवण ही मैं राग।
इक वैरागी ग्रिह मैं, इक ग्रही मैं बैराग॥"
—ग्रं० सा० २०, पृ० ५९।

इसमें आत्म विश्वास का होना अति आवश्यक है, नहीं तो "सवै पिछोड़े थोथरे, एक बिनां वेसास (सा० १९, पृ० ५६)"। इसके अतिरिक्त कबीर मन में दया, अहिंसा, क्षमा, शील, दास्य, दैन्य, त्याग आदि भावों का जागृत होना भक्त के लिए आवश्यक अंग समझते हैं। आत्म शुद्धि के अतिरिक्त कबीर चाहते हैं कि जीव में अन्य जीवों के लिए भी समभाव उत्पन्न हो जावे। वह प्राणी मात्र को अपने जीव के समान प्यार करे। सब प्रकार का भेद भाव मिट जावे। 'हंस' की दृष्टि में तो यही होना चाहिए, "एक जोति थैं सब उतपनां कौंन बांम्हन कौंन सूदा (पद ५७)"। कबीर की चेतावनी है कि बोलने वाली आत्मा तो एक है, उसे वर्ग में बाँटा नहीं जा सकता। कबीर ऐसा मानने वाले बुद्धुओं को कहते हैं, "कहै कबीर चेतहु रे भौंदू, बोलनहारा तुरक न हिंदू (पद ५६)"। कबीर कुल को महत्त्व नहीं देते हैं वे तो

"करणी" को मुख्य समझते हैं। उनकी दृष्टि में कर्म को उच्च होना चाहिए—

"ऊँचे कुल क्या जनमिया, जे करणी ऊँच न होइ।
सोवन कलस सुरै भरया, साधं निंद्या सोइ॥"

—ग्रं० सा० ७, पृ० ४८।

जब वाह्याचार, लोकाचार और आडम्बर को तज कर प्राणी परमात्मा को खोजता है तो उसके घट में सहज में ही ज्ञान प्राप्त हो जाता है

सतगुरू

कबीर का दृढ़ निश्चय है कि ज्ञान प्राप्ति के लिए सतगुरू का होना अति आवश्यक है। सारे संसार को संशय, भ्रम आदि विकार खा रहे हैं पर सतगुरू के ज्ञान से प्राणी स्वयं उनको नष्ट करने में सफल होता है—

"संसै खाया सकल जुग, संसा किनहूँ न खद्ध।
जे बेधे गुर अषिरां, तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध॥"

—ग्रं० सा० २२, पृ० ३।

इस कलियुग में बहु भाँति की विषमतायें हैं जो कि निरंतर प्राणियों को सताती रहती हैं पर सतगुरू की कृपा से कोमल तथा भोला हृदय सुरक्षित हो जाता है—

"सतगुरू के सदकै करूं, दिल अपणीं का साछ।
कलियुग हम स्यूँ लड़ि पड़्या, मुहकम मेरा बाछ॥"

—ग्रं० सा० ५, पृ० ११।

रक्षा के लिए सतगुरु के सदा कृतज्ञ रहेंगे पर सतगुरु कैसा हो, इस पर भी कबीर ने ध्यान दिलाया है। प्रथम तो कबीर के गुरु उनके शब्दों में 'सतगुरु' हैं। वे कहते हैं, "सतगुरु साँचा सूरिवाँ (सा० २८ पृ० ४)"। अगर वह ऐसा नहीं होगा तो—

"जाका गुर भी अंधला, चेला खरा निरंध।
अंधे अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पडंत ॥"

—ग्रं० सा० १५, पृ० २।

सतगुरु की महिमा तो अपार है, वे ज्ञान के नेत्र खोल देते हैं—

"सतगुर की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावण हार ॥"

—ग्रं० सा० ३, पृ० १।

ज्ञान चक्षु जब खुल जाते हैं और अनँत ज्योति का ज्ञान हो जाता है तब साधक परम पद को पा लेता है और गुरु की महिमा गाते कहता है—

"बलिहारी गुर आपणैं, द्यौं हाडी के बार।
जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी बार ॥"

—ग्रं० सा० २, पृ० १।

ऐसे समर्थ गुरु को संत, ईश्वर ही मानता है। वह ईश्वर का आदर न करके प्रथम गुरु का करता है। वह गुरु और ईश्वर में भेद केवल शरीर का ही मानता है; "गुर गोबिंद तौ एक है, दूजा यहु आकार (सा० २६, पृ० ३)"। गुरु की शरण

में आ जाने से; साधक उनमें घुल मिल जाता है। उसका नाम, उसकी जाति सभी कुछ लुप्त हो जाता है और उसका नाम धरनेवाला भी नहीं रहता है—

"कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लूंण।
जाति पाँति कुल सब मिटे, नाँव धरोगे कौंण॥"

—ग्रं० सा० १४, पृ० २।

ज्ञान के लिए सतगुरु को खोजना आवश्यक है नहीं तो, "कबीर सतगुर नां मिल्या, रही अधूरी सीष (सा० २७, पृ० ३)"।

विरह

कबीर को जब सतगुरु मिल गए, "सतगुरु दाव बताइया (सा० ३२, पृ० ४)" और "पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर (सा० ३२, पृ० ४)"। प्रेम मग्न कर के, सतगुरु ने उपदेश दिया। उनका 'सबद' रूपी बाण ठीक निशाने पर लगते ही भक्त का हृदय विरहाग्नि से भभक उठा—

"सतगुर मारया बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अंग उघाड़ै लागिया, गई दवा सूँ फूटि॥"

—ग्रं० सा० ८, पृ० २।

सत्यज्ञान के प्राप्त होते ही साधक अपना अनुभव कह न सका, किसी विकार की बात सुन न सका और तीर्थ आदि में प्रभु पाने के लिए असमर्थ हो गया।

"गूंगा हूवा बावला, बहरा हूवा कान।
पाऊँ थैं पंगुल भया, सतगुर मारया बाण॥"

—ग्रं० सा० १०, पृ० २।

इस विरह अग्नि को कोई नहीं बुझा सका। सागर भी इसके लिए असमर्थ रहा—

"विरह जलाई मैं जली, जल्ती जल हरि जाऊँ।
मो देख्याँ जल हरि जले, संतो कहाँ बुझाऊँ॥"

—ग्रं० सा० १९, पृ० १०।

विरह के कारण "नैना नीझर लाइया, रहँट बहै निस जाम (सा० २४, पृ० ६)"। रात रात भर रोने से आँखें "प्रेम कसाइयाँ" हो गई, पर "लोग जाणै दुखाड़ियाँ (सा० २५, पृ० ६)। कबीर विरहावस्था से डरते नहीं हैं, क्योंकि "बिन रोयाँ क्यूँ पाइए, प्रेम पियारा मित्त (सा० २७ पृ० ६)"। जैसे घुन काठ को खाती है, उसी प्रकार विरह शरीर को खाता रहता है। कबीर इस रहस्य को जानते हैं कि—

"हँसि हँसि कंत न पाइए, जिन पाया तिनि रोइ।
जे हाँसेंही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागनि कोइ॥"

—ग्रं० सा० २१, पृ० ९।

पिया का नाम रटते रटते और पंथ निहारते निहारते, शरीर की दशा सोचनीय हो गई—

"अंखड़ियाँ झाँई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि॥"

—ग्रं० सा० २२, पृ० ९।

अब "विरह भुवंगम तन बसै, मंत्र लागै कोइ (सा० १८, पृ० ६)" पर तो भी कबीर विरह की महिमा गाते हैं—

"बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिस घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान॥"

—ग्रं० सा० २१, पृ० ९।

लौ

सतगुरु की कृपा से हृदय में विरह व्याप्त हो जाता है और साधक का चित्त तल्लीन हो जाता है। तन्मयता की इस अवस्था को संत साहित्य में "लै" या "लौ" नाम से पुकारा है। यह प्रेम में छकी भक्त की वह अवस्था है जब उसकी चित्तवृत्तियाँ एक ही बिन्दु पर केन्द्रीभूत हो जाती हैं। वह निरंतर प्रभु प्रेम रस में लिप्त रहता हुआ भी पुनः पुनः प्रेम मदिरा पीने की इच्छा प्रकट करता है। भक्त की यह समाधि जब विशेष अवस्था पर पहुँच जाती है तब प्रभु-साक्षात्कार के वह बहुत निकट पहुँच जाता है। जिस स्थान पर भक्त पहुँच जाता है, वहाँ पर फिर सुख दुःख का द्वन्द्व नहीं रहता। साधक अन्य सबको विस्मरण कर जाता है, उसे स्मरण रहता है तो केवल अपने प्रिय का। उस अगम स्थान की प्राप्ति के लिए "मुनि जन जोवैं घाट"। "तहाँ कबीर" मठ रच्या चाहता है। कबीर विरहावस्था में व्यक्त करते हैं—

"जिहि बन सीह न संचरै, पंखि उड़ै नहीं जाइ।
रैन दिवस का गमि नहीं, तहां कबीर रह्या ल्यौ लाइ॥"

—ग्रं० सा० १, पृ० १८।

कबीर का इस अवस्था में अनन्य प्रेम है—

"कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैंनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहां समाइ॥"

—ग्रं० सा० ४, पृ० १९।

प्रेम योग की समाधि लगाए, कबीर सदा वहीं रहना चाहते हैं। उनका जीव अन्य स्थान पर जाने की तृष्णा छोड़ देता है—

"मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहि।
मुकताहल मुकुता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं॥"

—ग्रं० सा० १६, पृ० १५।

साधक की यह अवस्था बहुत ही लुभावनी होती है। वह विकार के फेर में पड़कर पतित भी हो सकता है। कबीर इस रपटीले पथ का परिचय देते हैं—

"कबीर कठिनाई खरी, सुमिरतां हरि नाम।
सूली ऊपरि नटविद्या, गिरूं त नाहीं ठाम॥"

—ग्रं० सा० २८, पृ० ७।

उनका तो उपदेश है—"कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्यां सौं करि मंत्र (सा० २०, पृ० ७)" ऐसे कबीर की यही परम सीख है—

"कबीर आपण राम कहि, औरां राम कहाइ।
जिहि मुखि राम न उचरै, तिहि मुख फेरि कहाइ॥"

—ग्रं० सा० १३, पृ० ६।

कबीर ने 'लौ' को व्यक्त करने के लिए हठयोग का सहारा लिया है। कबीर हठयोग करना नहीं चाहते, वरन् उन पारिभा-

चिक शब्दों में वे "कँवल कुवाँ में प्रेम रस, पीवै बारंबार (सा० २, पृ० १८)"। कबीर और हठयोग पर आगे लिखेंगे।

परचा

'लौ' लग जाने पर जब अहर्निश स्मरण होता रहता है, तब पतिव्रता स्त्री पर जैसे पति प्रसन्न होता, उसी प्रकार परमात्मा आकर अपना साक्षात्कार करता है। निर्मल हृदय भक्त अपने परब्रह्म से परिचित हो जाता है। परिचय पाते ही वह हंस आत्मा उस ब्रह्म की अनंत ज्योति की जगमगाहट देखता ही रह जाता है। प्रकाश पुञ्ज का कौतुक अखंड रहता है। परम तत्त्व के ज्ञान से परिचय इस प्रकार होता है—

"कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि।
पति सँग जागी सुंदरी, कौतिग दीठा तेणि॥"

—ग्रं० सा० १ पृ० १२।

परिचय हमेशा पूर्ण से ही होता है, क्योंकि ब्रह्म पूर्ण है; सारे दुःख दूर हो जाते हैं और आत्मा निर्मल हो जाती है—

"पूरे सूँ परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आतमा, तार्थैं सदा हजूरि॥"

—ग्रं० सा० ३५, पृ० ४।

इस विकट साधना के पश्चात् जो तत्त्व ज्ञान हुआ, वह सब गुरु की ही कृपा के कारण हुआ। पथ-प्रदर्शक गुरू तो सर्वदा साथ ही है—

"घट माँहैं औघट रह्या, औघट माँहैं घाट।
कहि कबीर परचा भया, गुरू दिखाई बाट॥"

—ग्रं० सा० ९, पृ० १२।

अनँत तेज से परिचय हो जाने पर साधक का स्थूल शरीर स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हो जाता है। दोनों आपस में घुल मिल जाते हैं, जैसे नमक और पानी मिलते हैं,—"लूंण बिलगा पांणियां, पांणीं लूंण बिलग"। आत्मा और परमात्मा तो एक ही थे और वे पुनः एक हो जाते हैं। पानी जैसे तरल पदार्थ से हिम जैसा स्थूल पदार्थ बना, पर 'परचा' प्राप्त हो जाने पर वह विलीन हो जाता है और पुनः वही बन जाता है—

"पांणीं ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ॥"

—ग्रं० सा० १७, पृ० १३।

कबीर कहते हैं कि परब्रह्म को जानकर तू नित्य उसका गुणानुवाद किए जा। यह सुख और आनन्द गूँगे के गुड़ की भाँति ही अकथनीय हो जाता है; कबीर भी इस द्विधा में हैं—

"दीठा हैं तो कस कहूँ, कह्यां न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहौ, तूं हरिषि हरषि गुंण गाइ॥"

—ग्रं० सा० २, पृ० १७।

कबीर इस 'परचे' के पश्चात् स्वर्ग की आशा नहीं करते हैं। उनका विश्वास है कि स्वर्ग और नरक संसार में ही हैं। वैकुंठ की वे सत्ता ही नहीं मानते हैं—"चलन चलन सबको कहत है,

नां जानौं वैकुंठ कहां है (पद २४)"। बिना वहाँ पहुँचे कबीर स्वर्ग की सत्ता ही नहीं मानते। पर इतना और कह देते हैं कि—"जब लग है वैकुंठ की आसा, तब लग नहीं हरिचरन निवासा (पद २४)"। कबीर का जब स्वर्ग ही नहीं हैं, तो वे माँगे क्या? उनका तो अविरल जाप है—"भिस्त न मेरे चाहिये, बाझ पियारे तुझ (सा० ७, पृ० १६)"।

कर्म और भाग्य

कबीर तेरी मेरी को नहीं मानते हैं। मनुष्य के सुकर्म ही उसे लाभ पहुँचाते हैं। इस मत का प्रतिपादन करते वे उपदेश देते हैं—"अपनी सुकृत भरि भरि लीजै (पद १०५)।" उनका ध्येय है कि मनुष्य भ्रम छोड़कर अपनी 'करणी' और उसके फल को समझ जावे। 'करणी' का सिद्धान्त तो स्पष्ट है—"जो जस करिहै सो तस पइहै (पद २००)"। भगवान अकर्मण्य को कहाँ तक सहायता दें, जब कि मनुष्य के कुकर्म उसको हानि पहुँचाते हैं, "कहै कबीर हरि कहा उमारै, अपणैं पाप आप जो मारै (पद २२९)"। वर्तमानकाल में अपने जन्म में किए पापों का फल जब कुकर्मी को मिलता है, तब वह कभी-कभी पूर्व जन्म के पापों का फल है, ऐसा कहकर टालना चाहता है। कबीर कहते हैं कि तूँ विषय कर्म की कंचुली पहने हुए भटक रहा है, गत जन्म के अभाग्य को क्यों कारण बताता है? इसी प्रकार कामी पुरुष, राम का जाप तो क्या किसी का भी जाप नहीं करता है,

पर दोष देता है पूर्व जन्म के पापों को। कबीर पूछते हैं, "को पूरिबला पाप (सा० २२, पृ० ४१)"। कबीर प्रकृति के विधान को अवश्य मानते हैं; ऐसे प्रसंगों में "पूरबला लेख" का अर्थ होगा पहले से ही लिखा हुआ। वे कहते हैं कि ऐसा होना था क्योंकि ईश्वर द्वारा ऐसा निश्चित था। पर वे कर्म की अवहेलना नहीं करते हैं—

"देखो कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख॥"

—ग्रं० सा० १२, पृ० ११।

कबीर की दृष्टि में इस प्रकृति के विधान को टालना असम्भव है। जल में घर करनेवाली सेमर की फली भी उसी में जल मरी क्योंकि "पूरब जनम लखेणि (सा० २२, पृ० ३४)" ऐसी ही थी। कबीर के सतगुरु उनको अन्य देवों के फेर से छुड़ाकर उन्हें पूर्व (पहले) के ही निश्चित पति (पूर्व जन्म के नहीं) से साक्षात्कार करा देते हैं—

"भोलै भूली खसम कै, बहुत किया बिभचार।
सतगुरु गुरु बताइया, पूरिबला भरतार॥"

—ग्रं० सा० ३, पृ० ६०।

कबीर कर्म और उसके फल को मानते हैं। पर कबीर के मत में प्रकृति के विधान का हस्तक्षेप भी हो जाता है। इसे कहें तो 'भाग्य' भी कह सकते हैं। कर्म तो करना ही चाहिए, पर

परमात्मा की अनुकम्पा भी आवश्यक है।" बिना ईश्वर की कृपा के कर्म कुछ नहीं कर सकते—

"कबीर करणी क्या करै, जे राम न करै सहाइ।
जिहिं जिहिं डाली पग धरै, सोई नवि नवि जाइ॥"

—ग्रं० सा० १०, पृ० ६२।

इस हेतु कबीर गर्व करना छोड़कर अपने आपको निमित्त मात्र मानते हैं—

"कबीर कूती राम की, मुतिया मेरा नांउं।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउं॥"

—ग्रं० सा० १४, पृ० २०।

जन्म और मृत्यु

जन्म और मरण के सम्बन्ध में कबीर इस्लाम मत से सम्भव है सहमत नहीं हैं। वे आवागमन को मानते हैं। शुद्ध भारतीय की भाँति वे कहते हैं, "मौ भ्रमत अनेक जन्म गया (पद ११६)"। इस अनेक जन्म में आने-जाने का कारण वे बताते हैं—

"पर निंद्या पर धन पर दारा, पर अपबादैं सूरा।
तार्थे आवागमन होइ फुनि फुनि, ता पर संग न चूरा॥"

—ग्रं० पद १९१।

बिना राम की शरण आप, "लख चौरासी जोनि फिरौगे (पद २२४)"; यह कबीर की चेतावनी है। वे पुनः कहते हैं,

"होइ मगन राम रँगि राचै, आवागमन मिटै धापै (पद १८३)"
कबीर मनुष्य जन्म को अनमोल रत्न मानते हैं और उसका उपयोग सदा पर उपकार में करना चाहते हैं। उनका मत है कि मरने पर उसके कर्मों का लेखा होगा, दफतर खोल कर उसके कर्मों का हिसाब लगाया जावेगा। मृत्यु को वे आत्मा का चोला पलटना ही मानते हैं। मानव-शरीर माटी का बना है और यह घट उसी में टूटकर मिल जाता है। राख मात्र बच रहती है और हंसा उड़ जाता है।

ब्राह्मण धर्म का जो मत है कि देश में ग्लानि होने से या भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए स्वयं परमात्मा नर रूप में जन्म लेते हैं; इस अवतारवाद को कबीर नहीं मानते हैं। निर्गुण संत कवियों ने ज्ञात होता है, अवतार के तात्पर्य को नहीं समझा है? उन्होंने नर पूजा को उचित नहीं समझकर नर रूप हरि के अवतारों का भी खंडन किया है—

"ना दसरथ घर औतरि आवा, ना लंका का रांव संतावा।
देवै कूख न औतरि आवा, ना जसवै ले गोद खिलावा।
ना वो ग्वालन के सँग फिरिया, गोबरधन ले न कर धरिया।
बांवन होय नहीं बलि छलिया, धरनी बेद ले न उधरिया।
गंडक सालिगरांम न कोला, मछ कछ है जलहिं न डोला।
बद्री बैस्य ध्यान नहीं लावा, परसरांम है खत्री न संतावा।
द्वारामती सरीर न छाड़ा, जगननाथ ले प्यंड न गाड़ा।"

—ग्रं, पृ० २४२-१।

नंद के नंदन के लिए भी कबीर पूछते हैं—"धरनि अकास दोऊ नहीं होते, तब यहु नंद कहाँ थौ रे (पद ४८)"। गिरिवर-धारी कृष्ण के लिए कहते हैं कि "धरनि अकास अधर जिनि राखी" और "सिव बिरंचि नारद जस गावैं", ऐसे सबके परब्रह्म की साखी भरना चाहिए पर कृष्ण के इस उपक्रम के लिए भी कबीर को कहना है कि—"लोग कहैं गोबरधनधारी ताकौ मोहि अचंभौ भारी (पद ३३५)" क्योंकि "अष्ट कुली परवत जाके पग की रैंनां, सातौं सायर अंजन नैंनां (पद २३५)"। इस प्रकार अवतारवाद का खंडन होता रहा। दुर्भाग्यवश स्वयं अवतारवाद का खंडन करनेवाले कबीर उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके अनुयायियों द्वारा अवतार मान लिए गए।

अवतार का खंडन करते हुए भी कबीर ने अवतारी देवताओं की एक विशेषता को बहुत सहारा है। भक्त का कष्ट निवारने के लिए, विभिन्न रूपों में परमात्मा प्रकटते हैं। इसलिए भक्तों के प्रति भगवान का जो अनुराग है, वही कबीर की प्रशंसा का विषय है। भगवान की शरणागत पालन और भक्त वत्सलता आदि गुणों को कबीर, भक्ति की गुण गरिमा गाते उल्लेख करते चलते हैं। 'भगतों' को उबारने के लिए भगवान ने जो कष्ट उठाया, उसकी महिमा गाते वे कहते हैं—

> "राजा अंबरीक के कारणि, चक्र सुदरसन जारै।
> दास कबीर को ठाकुर ऐसो, भगत की सरन ऊबारै॥"
>
> —ग्रं० पद १२२।

नृसिंहावतार की पूर्ण कथा कहते, कबीर अंत में कह देते हैं, "प्रहिलाद ऊधारयौ अनेक बार", अर्थात् भगवान ने भक्त को उबारा और "भगति भेव", को प्रकट किया। इस भक्त वत्सलता के लिए नृसिंह का अवतार हुआ, हिरणाकश्यप ने क्रोध में आकर खड्ग निकाला, और पूछा—"तोहि राखनहारौ मोहि बताइ", प्रह्लाद पर संकट आया और भगवान प्रकटे ; कबीर के शब्दों में उनका अवतार इस प्रकार है—

"खंभा मैं प्रकट्यो गिलारि, हरनाकस मारयौ नख बिदारि।
महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यंभ प्रकट कियौ भगति भेव।
कहै कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलाद उधारयौ अनेक बार ॥"

—ग्रं० पद ३७९।

कबीर का रूप

कबीर प्रथम तो स्वयं अनुभवित राम के भक्त हैं। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को जब स्पष्ट रूप से अनुभव करके देख लिया, तब ही वे उनका प्रचार करने लगे होंगे। कबीर एक प्रचारक या उपदेशक के रूप में सदा प्रयत्नशील रहे। वे अपना यह रूप स्वयं प्रदर्शित भी कर देते हैं। बहुत समझाने पर भी जब लोग इनका आदेश नहीं मानते थे तब वे इन्हें जता देते थे कि इसमें मेरा दोष नहीं है। मैंने तो अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। प्रभु ने उनको जिस रूप में भेजा था, वह क्या था ? कभी-कभी कबीर व्यक्त कर देते हैं। वे अपने आपको उसका दूत तक मानते हैं

और उसकी आज्ञा को मानव मात्र तक पहुँचाना अपना धर्म समझते हैं—

"मोहि आग्या दई दयाल दया करि, काहू कूं समझाइ।
कहै कबीर मैं कहि कहि हारयौ, अब मोहिं दोस न लाइ॥"

—ग्रं० पद २१८।

कबीर का तो कथन है कि उन्होंने पूर्ण ज्ञान पा लिया है, पर विधना का वचन नरलोक में लोग न मालूम क्यों नहीं समझ रहे हैं—

"दास कबीर प्रेम रस पायो, पीवणहारा न पाऊं।
बिधनां वचन नांहीं, कहु क्यां काढि दिखाऊँ॥"

—ग्रं० पद १६६।

'मसकीन' कबीर अपने आपको तो हंस बना पाये इसमें हमें सन्देह नहीं। वे स्वयं अपनी विजय का डंका पीट देते हैं। संसार को भले ही न सुझा सके पर वे स्वयं नहीं भूले—

"एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब संसारा।
एक न भूला दास कबीरा, जाके रांम अधारा॥"

—ग्रं० पद १९८।

संसार सागर को पार करते समय माया से उनका सामना पड़ गया। कबीर सफलतापूर्वक उसका फंदा काटकर, अग्रसर हुए, वे स्वयं कहते हैं—"सब जग तो फंधे पड़या, गया कबीरा काटि (सा० २, पृ० ३२)" कबीर को इस प्रकार सफलता मिली।

जहाँ पर मुनि लोग भी नहीं पहुँच सके, वहाँ कबीर विराजमान हो गए—

"सुर नर थाके मुनि जनां, जहाँ न कोई जाइ।
मोटे भाग कबीर के, तहाँ रहे घर छाइ॥"

—ग्रं० सा० १०, पृ० ३१।

भक्ति

कबीर का सारा महत्त्व उनकी भक्ति में है। कबीर की साक्षी है—"पकरी टेक कबीर भगति की (पद ५६)" और सभी विरोधी लोग झख मारने लगे। कबीर को लोग संत कहें, सूफी कहें, योगी कहें, फकीर कहें, मसकीन कहें, पर कबीर वास्तव में भक्त हैं। भक्ति के क्षेत्र में वे केवल वैष्णव हैं। अपनी भक्ति का परिचय भी कबीर ने दिया है, "भगति नारदी मगन सरीरा, इहि बिधि भव तिरि कहै कबीरा (पद २७८)"। भगवद्विषयक प्रेम को भक्ति कहते हैं। नारद-भक्ति सूत्र में नवधा भक्ति का रूप अंकित है। नवधा भक्ति रामानंद द्वारा दशधा हो गई; उन्होंने प्रेम को और जोड़ दिया। द्राविड़ देश में उत्पन्न भक्ति उत्तरी भारत में जब प्रचारित हुई तब कबीर ने उस प्रेमभक्ति को पूर्ण रूप से अपना लिया। किसी ने कहा भी है—

"भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्त द्वीप नव खण्ड॥"

रामनंद से राम का तारक मंत्र मिलते ही कबीर ने प्रेम भक्ति का विस्तार किया और भक्तों का समूह जुटने लगा—

"कबीर भया है केतकी, भँवर भये सब दास।
जहँ जहँ भक्ति कबीर की, तहँ तहँ राम निवास ॥"

—ग्रं० सा० ११, पृ० ५३।

कबीर का प्रेम योग जितना सहज है उतना ही विकट भी है। यह खाला का घर नहीं कि जो चाहे सो वहाँ पहुँच जावे। इस प्रेम का मूल्य तो सिर है। जिसे भी आवश्यकता हो वह सिर देकर ले जावे—

"प्रेम न खेतौं नींपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ ॥"

—ग्रं० सा० २१, पद ७०।

इस प्रेम के मार्ग को अगम और अगाध पाकर ही कबीर चाहते हैं कि भक्त परमात्मा के प्रति अनन्य भाव रखे; वह अपने प्रेम को पूर्ण रूप से एकान्तिक बना ले, तभी उसे उसका प्रेमी मिलेगा—

"नैनां अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैंन झँपेउं।
नां हौं देखौं और कूं, नां तुझ देखन देउं ॥"

—ग्रं० सा० २, पृ० १९।

इस रसाल प्रेम रस को पीकर भक्त अपनी सुध-बुध भूल जाता है। वह प्रेम में हरि रस मद माता छका रहता है—

"हरि रस पीया जाणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमार।
मैमंता घूँमत रहै, नांही तन की सार ॥"

—ग्रं० सा० ४, पृ० १६।

यह भक्ति निष्काम होनी चाहिए, अन्यथा वह परमात्मा नहीं मिलेगा—

"जब लग भगति सकामता, तब लग निर्फल सेव।
कहै कबीर वै क्यूँ मिलैं, निहकामी निज देव॥"

—ग्रं० सा० १०, पृ० १९।

इस संसार में भक्ति पा जाने पर बहुत प्रकार से आक्रमण होता रहता है। डाकू हाथ मारना चाहता है, तब परमात्मा आकर सहायता करता है—

"चौहटे च्यांतामणि चढ़ी, हाडी मारत हाथि।
मीरां मुझ सूं मिहर करि, इब मिलौं न काहू साथी॥"

—ग्रं० सा० १९, पृ० १४।

प्रेम मत्तभक्त अपनी दुविधा दूर करके सम बुद्धि द्वारा मध्यम मार्ग का सहारा लेता है। जब काल का आक्रमण होता है तब उसका सामना वीर, सती और साधु ही कर सकते हैं। इस हेतु यह प्रेम मार्ग अति ही कठिन और तलवार की धार या भाले की नोंक पर चलने सा है। स्वयं कबीर इस निरंतर राम स्मरण की कठिनाई को जानते हैं—

"कबीर कठिनाई खरी, सुमिरतां हरि नाम।
सूली ऊपरी नट विद्या, गिरूं त नाहीं ठाम॥"

—ग्रं० सा० २९, पृ० ७।

राम की भक्ति के अतिरिक्त कबीर एक और साधन बताते हैं जिससे हरि प्रेम की कभी कमी नहीं होती है। 'राम सरीखे जन' जब मिल जावें तब कार्य पूरा हुआ समझ लो। इन दोनों

साधनों को कबीर 'साध संगति' और 'हरि भगति' मानते हैं। इस हेतु वे कहते हैं—"सब थैं नीकी संत मँडलिया, हरि भगतनि कौ भेरौ रे (पद ८४)"।

भक्त कबीर ने अपनी रचनाओं में पूरबवर्ती भक्तों के भी नाम गिनाए हैं, तनिक इन भक्तों को कबीर क्यों भक्त मानते हैं, आदि पर भी विचार कर लें। कबीर ने पौराणिक भक्तों के अतिरिक्त गोरख, नामदेव और जैदेव को भी भक्त कह कर पुकारा है। यह तीनों भक्त अपने-अपने मत में एक दूसरे से अलग हैं। कबीर ने इनकी परमात्मा के प्रति तन्मयता और अनन्य भाव देखकर इन्हें भक्तों की श्रेणी में रखा होगा। नामदेव के संबंध में तो ऊपर विचार चुके हैं। नामदेव की विचारधारा पूर्ण रूप से कबीर में समा गई है। इतिहास के आँकड़ों के आधार पर तो नामदेव इस भक्ति के क्षेत्र में प्रथम हिन्दी के निर्गुण भक्त हैं, पर नामदेव के बनाए क्षेत्र में जब कबीर अन्य कई मौलिक सुधारों के साथ उतरे तो वे पूर्ण रूप से प्रख्यात हो गए। जयदेव को कबीर ने भक्त माना है, पर उन्होंने उनकी काम भक्ति को युग के अनुकूल न पाकर त्याज्य ही समझा है। कबीर काम द्वारा परमात्मा मिल सकते हैं, ऐसा मानते हैं, पर इसका उपदेश नहीं देते हैं—

"काम मिलावै राम कूं, जे कोई जांणैं राखि।
कबीर बिचारा क्या करै, जाकी सुखदेव बोलैं साखि॥"
—ग्रं० सा० ११, पृ० ५१।

कबीर भगवान पुराण की ओर संकेत करते हैं। गोपियों की कांता भक्ति अवश्य मुक्ति का साधन है यदि इसकी साधना किसी को आती हो तब। ईश्वर विषयक रति को अज्ञानी लोग विषयों के चक्कर में लौकिक मानकर अपने आपको पदच्युत कर देते हैं। कबीर ने इस प्रकार के कामी नरों का संकेत भी किया है—

"भगति बिगाड़ी कांमियां, इंद्री केरै स्वादि।
हीरा खोया हाथ थैं, जनम गँवाया बादि॥"

—ग्रं० सा० १८, पृ० ४०।

काम का वार सब पर होता रहता है। इस हेतु कबीर ऐसे मूर्खों को चेतावनी देते हैं कि क्या तो गृहस्थ और क्या वैरागी दोनों जब कामवश हो जाते हैं, तब उनका कहीं भी ठिकाना नहीं रहता है—

"कबीर कहता जात हौं, चेतै नहीं गँवार।
बैरागी गिरही कहा, कांमीं वार न पार॥"

—ग्रं० सा० २५, पृ० ४१।

इस हेतु जब कबीर ने देखा कि "भगति बिगाड़ी कांमियां" तो वे इस कांता भक्ति को युग को देखते हुए त्याज्य समझने लगे होंगे, तभी तो उन्होंने इसका प्रचार भी नहीं किया। यहाँ पर कबीर कृत सखी भावना के पदों की भक्ति पर विचार कर लेना चाहिए। कबीर के भी बहुत बड़े भाग्य हैं क्योंकि घर बैठे, "बहुत दिनन थैं प्रीतम पाये (पद २)"। वे कहते हैं "दुलहनीं

गावहु मंगलचार, हम घरि आये हो राजा राम भरतार (पद १)"। कबीर अविनाशी बालम को घर बुलाते हैं—

"बाल्हा, आव हमारे ग्रेह रे, तुम्ह बिन दुखिया देह रे।
सबको कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अदेह रे।
एक मेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे।
आन न भावै नींद न आवै, ग्रिह बन धरै न धीर रे।
ज्यूं कांमीं कौं कांम पियारा, ज्यूं प्यासे कूं नीर रे।
है कोई ऐसा पर-उपगारी, हरि सूं कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखें जीव जाइ रे॥"

—ग्रं० पद ३०७।

कबीर बहुत स्थलों पर राम की दुलहिन बनते हैं। पतिव्रता नायिका की तरह विरह में रोते हैं, कलपते हैं। पर कबीर का सखी भाव या कांता भाव नाम मात्र को भी शृंगारिक नहीं है। जयदेव का कमनीय शृंगार, आलम्बन और संचारी भावों की सहायता से विकसित होता है। कबीर में यह सब कुछ भी नहीं है। उनका राम को पति मानना एक साधारण रूपक है। कबीर तो कहीं-कहीं राम को अपना साला तक बना देते हैं। कबीर के इस प्रकार के रूपक शृंगार की कोटि में नहीं आते हैं। उनकी शब्दावली प्रियतम राम को पति मानते हुए भी उनमें साकार रूप का आलम्बन नहीं खड़ा कर पाती है। कबीर ने जयदेव को इस प्रकार नहीं अपनाया है।

कबीर गोरख का नाम कई बार लेते पाये गए हैं। उनकी

दृष्टि में गोरख योगी थे, जिन्होंने कि सब सुख छोड़ कर हरि का ध्यान किया था। गोरख का यश कलियुग में छा गया। गोरख ने काम पर विजय प्राप्त कर ली—

"कामणि अंग विरकत भया, रत भया हरि नांह।
साखी गोरखनाथ ज्यूं, अमर भये कलि मांहि॥"

—ग्रं० सा० १२, पृ० ५१।

कबीर गोरखनाथ के राम नाम भजन की सराहना करते कहते हैं—

"राम गुन बेलड़ी रे, अवधू गोरखनाथि जांणीं।"

—ग्रं० पद १६३।

गोरख जैसे विरले जोगी ने इस राम गुन लता को सहज में ही जान लिया। गोरखनाथ ग्यारहवीं शती के लगभग हुए थे। इनके बारे में बहुत ही कम ज्ञात है, पर इनकी कठोर साधना की कई कहानियाँ आज भी प्रचलित हैं। गोरखनाथ अपने गुरु मछेन्द्रनाथ को सिंघल दीप से छुड़ाकर लाए भी थे। इस प्रकार गोरख योगी तो हैं ही, पर भजन के कारण वे भक्त भी माने गए हैं। कबीर पर गोरख का बहुत प्रभाव है। कबीर का हठयोग और उलटबाँसियोंवाली शैली, इन नाथों की देन है। कबीर गोरख के कहाँ तक ऋणी हैं, इस पर विचार अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ पर इतना ही कहना इष्ट है कि गोरख कबीर की परख में भक्त ही हैं।

कबीर की भक्ति की टेक और उसकी दशधा प्रवृत्ति पर हम

विचार कर चुके हैं। कबीर का प्रेम योग मध्ययुग की साधना की एक मधुमय देन है, पर उसकी कमनीयता कबीर की उद्दण्डता और उनके सुधार के चक्कर के कारण लुप्त हो गई। इसी प्रेम की निखरी अवस्था हिन्दी के प्रेम मार्गी सूफी कवियों में खूब खिली है।

कबीर और योग

कबीर का योग से बहुत संबंध है, यह तो उनकी रचनाओं से प्रत्यक्ष मालूम पड़ जाता है और जब से उनका जुगी कुल में पैदा होनेवाला अनुमान, प्रमाण माना जाने लगा है, तब से कबीर का नाता योगी दल से दिन प्रतिदिन गाढ़ा होता जा रहा है। कबीर के योगपरक रूपक और उलटबाँसियाँ उनकी स्वयं की मौलिक कल्पना नहीं है। उन पर इस शैली को अपनाने के लिए कई कारणों का बोझ है। कबीर जो कि 'सहज' साधक हैं, भला कब योग और वह भी हठयोग के फेर में पड़ते? उनका प्रेम योग, बहुत ही सहज है। कबीर तो राम के अपने भाले हैं। उनका सहसा षट कर्म और षट चक्र की उलझन में उलझना विचार का विषय हो जाता है। कबीर के काल में द्राविड़ से आई भक्ति को रामानंद उत्तरी भारत में फैला चुके थे। इस क्षेत्र में वैष्णव प्रचार के पहले शैव धर्म का बोलबाला था। पश्चिम के सूफियों के अपेक्षा पूर्व के नाथ, सहजिया, योगी आदि अवधूतों का जनता पर प्रभुत्व था। पाल साम्राज्य के नष्ट होते-होते उनका आश्रित विक्रमशिला नामक विशाल विद्यापीठ मुस्लिमों का कोप भाजन हो गया। विद्यापीठ की ईंट से ईंट बजा दी गई और उसका

अमूल्य पुस्तकालय अग्नि का ईंधन बना दिया गया। उन दिनों विक्रमशिला मंत्र, तंत्र का केन्द्र था। सिद्धों की करामाती करतबों का वहाँ नित्य प्रति प्रदर्शन हुआ करता था। प्रसिद्ध तिब्बती इतिहासकार तारानाथ इसका साक्षी है। इस विद्यापीठ और इससे संबंधित विहारों के टूट जाने पर, इनके निवासी पूर्वी भारत में फैल गए। बौद्धों की महायान शाखा के अवशेष सहजिया सिद्ध समाज पर अपना रँग जमाने लगे। यह सिद्धाचार्यगण उच्च वर्ण के न होने से, समाज में कुछ बहिष्कृत से रहे होंगे। इन्होंने इस हेतु सर्व प्रथम जाति बँधनों और जाति भेद पर आक्रमण किया। यह लोग बहुत सफल भी हुए क्योंकि जनता इनकी तांत्रिक शक्तियों के कारण बहुत कुछ आकर्षित हो चुकी थी। यह सिद्धाचार्य बौद्धमत को तजकर तीव्र गति से शैव मत की ओर मुड़ रहे थे क्योंकि बौद्धमत की जड़ तो उनके विहार थे और वे मुसलमानों द्वारा नष्ट भ्रष्ट हो चुके थे। इसी संधिकाल में नेपाल के निकट एक नया नाथ सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। बौद्ध और शैव मतों का यह समिश्रण था। आज भी नेपाली मानते हैं कि उनके पशुपतिनाथ (महादेव) ही बुद्ध देव हुए थे। इस प्रकार शीघ्र ही कुछ वर्षों में बौद्धधर्म लोकमत में घुल गया। इस नाथ सम्प्रदाय की साधना-पद्धति का नाम ही हठयोग है। इस सम्प्रदाय पर सिद्धों का जो प्रभाव पड़ा, वह कालांतर में लोक समुदाय में घर कर गया और उसके कबीर भी ऋणी बने।

महायानशाखा के और सहजिया सिद्धों में जब नाथों को भी जोड़ देते हैं तो उनमें पूर्ण रूप से समानता पाई जाती है। बहुतों के तो नाम भी वही हैं, जो अन्य दल के हैं। विचारों में भी पूर्णतया समानता है। इस क्षेत्र में जितनी भी शोध हुई है उससे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि एक ही विकास की परम्परा के यह दल उसकी विभिन्न दशाओं के रूप हैं। इन सिद्धों ने जाति भेद के अतिरिक्त पुस्तकी विद्या, मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि लोकाचारों पर कसकर आक्रमण किया। शरीर में ही सब पाने वाले सिद्धों का आतंक समाज पर था और कबीर अवश्यमेव इनसे प्रभावित हुए होंगे। विद्वानों का कथन है कि कबीर के कई विचार इन सिद्धों के पदों के ऋणी हैं। यह कथन सत्य भी है। कबीर पर गोरखनाथ की रचनाओं का स्पष्ट आभार है, तभी तो कबीर हठयोग की संपूर्ण शब्दावली का प्रयोग करते हैं। इस शब्दावली के अतिरिक्त उनकी शैली भी कबीर ने अपनाई है। कबीर की उलटबाँसियाँ और योगपरक रूपक नाथों की देन है। कबीर ऋणी तो अवश्य हैं, पर उन्होंने हठयोग को साध्य न बनाकर साधन बनाया है। खरी बात तो यह है कि कबीर योग मार्ग की क्लिष्ट साधनाओं को बाह्याचार समझते हैं। उन्होंने तो शब्दावली और भाव व्यक्त करने की शैली को अपनाकर हठयोग से अपना पीछा छुड़ाया है। कबीर नाथों के धारण योग्य आवश्यक वस्तुओं को जैसे, भभूति, सींगी, मुद्रा आदि को व्यर्थ ही समझते हैं—

"आसण पवन किये दिढ रहु रे, मन का मैल छाडि दे बौरे।
क्या सींगी मुद्रा चमकायें, क्या बिभूति सब अंगि लगायें ॥"

—ग्रं० पद, ३५५।

दण्ड, मुद्रा, कन्था प्रभृति धारण करने वाले अन्य जोगियों को भी कबीर फटकार कर कहते हैं—

"डंडा मुद्रा खिंथा आधारी, भ्रम के भाइ सबै भेखधारी।
आसन पवन दूरि करि बवरे, छोडि कपट नित हरि भज बवरे ॥"

कबीर तो इन खप्पर, सींगी, विभूति, आसन, अनाहत नाद को शरीर के बाहर न मानकर मन में भीतर ही माना है। मन में सब है, इसको रूपक द्वारा प्रकट करते हैं—

"सो जोगी जाके मन मैं मुद्रा, राति दिवस न करई निद्रा।
मन मैं आसण मन मैं रहणां, मन का जप तप मन सूं कहणां।
मन मैं षपरा मन मैं सींगी, अनहद बेन बजावै रंगी।
पंच परजारि भसम करि भूका, कहै कबीर सो लहसै लंका ॥"

—ग्रं० पद० २०६।

कबीर को हठयोग का क्या पूर्ण शास्त्रीय ज्ञान था कहना कठिन है। पर उनके कुछ पदों में षट चक्र में स्थित देवताओं की जो नामावली है, वह हठयोग के प्रामाणिक ग्रंथों से भिन्न है। उनके पदों में शास्त्र की व्याख्या नहीं है क्योंकि उन्हें हठयोग को अपना विषय नहीं बनाना था। यह उपलब्ध संकेत तो कबीर के शास्त्रीय ज्ञान की साक्षी नहीं देते हैं। इस संबंध में

यह पद द्रष्टव्य है—'मन के मोहन बीठुला, यह मन लागौ तोहि रे (क० ग्रं० पद ४)"।

हठयोगियों की भाँति कबीर भी "तीनि हाथ एक अरधाई" वाले अंबर (शरीर) को पहिचानना चाहते हैं। साधना द्वारा वे समाधि लगाकर अमृत पीने का उपदेश देते हैं—

"अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीवै।
मूल बाँधि सर गगन समाँनाँ, सुखमन यों तन लागी।
काँम क्रोध दोऊ भया पलीता, तहाँ जोगणीं जागी।
मनवाँ जाइ दरीबै बैठा, मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाँहीं, सबद अनाहद बागा॥"

—ग्रं० पद ७०।

और नरहरि का सहज ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी वे प्रथम तो गुरु द्वारा ज्ञानरूपी अग्नि चाहते हैं। इसके पश्चात्—

"उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर डंड सरपूरा।
गगन गरजि मनसुंनि समाँनाँ, बाजे अनहद तूरा।
सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वाँमीं।
पद आनंद काल थैं छूटै, सुख मैं सुरति समाँनी॥"

—ग्रं० पद ७।

कबीर ने अपने यही भाव योग परक रूपकों और उलट-बाँसियों में व्यक्त किए हैं। कबीर ने जो पहेलियाँ खड़ी की हैं उनको उलझन से वे स्वयं परिचित थे। पर वे शैली विशेष को

अपनाने के लिए बाध्य हो चुके थे। भारतीय संतों ने कहीं भी इस बात का संकेत नहीं दिया है कि उन्होंने इस खिलवाड़ में क्यों साथ दिया? इसका युक्ति संगत समाधान तो यही जान पड़ता है कि सहजिया सिद्धों की तान्त्रिक करामातों की भाँति ये उल्टी बानियाँ भी जनता को आकृष्ट करने में सफल हुईं। जनता पर प्रभुत्त्व जमाने के लि यह चालें अति आवश्यक थीं। इस ढंग की परम्परा मुसलिम संतों में भी पाई जाती है। 'फारिज' नामक एक सूफी का कहना है कि इस शैली द्वारा थोड़े में बहुत कुछ कह दिया जाता है और दूसरे यह कि कट्टर काजियों के कोप से बचाव हो जाता है। कबीर की 'उलटी' जब पारिभाषिक शब्दावली द्वारा व्यक्त होती है तब वह अति ही बोहड़ रूप धारण कर लेती है। अपने इस कूट रूप से कबीर परिचित थे।

कबीर ब्रह्मज्ञान पाने के लिए हठयोग की क्रिया का वर्णन करते हैं और कहते हैं—"कहै कबीर जे आप बिचारै, मिटि गया आवन जांनीं"। स्वयं के विचारने के लिए क्या है? यह वे कहते हैं वह है 'अनभै कथा'। आगे कबीर इस अकथ कहांणी को पद में देते हैं—

"इहि तत रांम जपहु रे प्रांनीं, बूझौ अकथ कहांणी।
हरि कर भाव होई जा ऊपरि, जाग्रत रैंनि बिहांनीं।
डाइन डारै सुनहां डोरै, स्यंघ रहै बन घेरै।
पंच कुटुंब मिलि झूझन लागे, बाजत सबद संघेरैं।
रोहै मृग ससा बन घेरै, पारधी बांण न मेलै।

सायर जलै सकल बन दाझै, मंछ अहेरा खेलै।
सोई पंडित सो तत ग्याता, जो इहि पदहि विचारै।
कहै कबीर सोइ गुरु मेरा, आप तिरै मोहि तारै॥"

—ग्रं० पद ६।

उपर्युक्त पद में कूट द्वारा कबीर माया रूपी डाइन का मन पर डोरा डालना, पाँच तत्त्वों का कलह करना, जीव का चारों ओर से घिर जाने आदि का वर्णन करते है। कबीर कहते हैं कि जो इस पद को समझ जावेगा, वह तत्त्व का जानने वाला और मेरा गुरू है। एक अन्य पद में वे कहते हैं कि 'अगम ग्यान पद माहीं'। एक और स्थान पर लिखा है—"कहै कबीर सो पंडित ग्याता, जो या पदहि बिचारै"। इन अवतरणों और कबीर द्वारा प्रयुक्त हठयोग की शब्दावली का सम्यक संबंध देखकर बलात् यह धारणा घर करती है कि कबीर हठयोग को बहुत महत्त्व देते हैं। पर ऐसा नहीं सोचना चाहिए इसका कारण हम पीछे दे चुके हैं कि कबीर के लिए यह शैली साधन है साध्य नहीं। इतना ही नहीं कबीर ने तो योगियों की वेशभूषा को भी आड़ों हाथ लिया है। सहज समाधि में अनहद नाद बजता है, उसको सुनने के लिए साधक अकथ साधना करता है। हठयोग का अपना चरम लक्ष्य यही है, पर कबीर तो इससे सन्तुष्ट नहीं, वे तो और कुछ चाहते हैं—

"बाजै जन्त्र नाद-धुनि होई। जो बजावै सो औरै कोई।
बाजी नाचै कौतिग देखा। जो नचावै सो किनहुँ न पेखा॥"

—ग्रं० पृ० २३०-२११।

सच बात यह है कि कबीर भक्ति को सर्वोपरि मानते हैं—

"कहै कबीर-जोगी अरु जंगम, ए सब झूठी आसा।
गुरु प्रसाद रटौ चात्रिग ज्यौं, निहचै भगति निवासा ॥"

—ग्रं० पद १४।

इस प्रकार कबीर के मूल भाव तो उनके भक्ति संबंधी पदों में निहित हैं कोई रूपकों या उलटबाँसियों में ही नहीं। वर्ग विशेष का सोचना है कि कबीर ने तत्त्व को कुपुरुषों से छिपाने के लिए उन्हें कूट पदों द्वारा सुरक्षित रक्खा। ऐसा मानना भूल है। पुनः कह देना आवश्यक है कि कबीर ने इस शैली को जनता पर सम्मोहन करने के लिए अपनाया था। अनुगमन के लिए चमत्कार की विशेष आवश्यकता होती है। इन कूट पदों को समझने के लिए तनिक हठयोग की क्रियाओं से परिचित हो जाना चाहिए।

हठयोग की साधना

नाथ पंथ की साधना-पद्धति हठयोग में सबसे मुख्य शक्ति कुण्डलिनी की है। उपनिषदों में इसे नाचिकेत अग्नि कहा गया है। जीव माता के गर्भ में कुण्डलिनी और प्राणशक्ति को लेकर प्रवेश करता है। पर यह कुण्डलिनी शक्ति सदा निश्चेष्ट रहती है। साधक कुण्डलिनी को ऊपर की ओर उद्बुद्ध करता है। अन्यथा कुण्डलिनी सदा अधोमुख ही रहती है और फलस्वरूप जीव काम, क्रोध, अहंकार आदि के वशीभूत रहता है। मानव शरीर में पीठ की जो लम्बी हड्डी है, उस मेरुदण्ड के निम्न छोर के पास एक

त्रिकोण चक्र है। इस त्रिकोण चक्र में एक स्वयंभू लिंग है जिसके चारों ओर सर्पिणी की भाँति साढ़े तीन वृत्तों में कुण्डलिनी लपटी रहती है। अपनी पूँछ अपने मुख में दबाये हुए यह संसार की सृजन शक्ति सोये रहती है। साधक इस कुण्डलिनी को जागृत कर अपने शरीर में अवस्थित वायुओं को प्राणायाम द्वारा ऊपर उठाता है। कुण्डलिनी शक्ति के व्यक्त होने के साथ वेग उत्पन्न होता है। उससे जो पहला स्फोट होता है उसको नाद कहते हैं। नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश का व्यक्तरूप महाबिन्दु है, जिसके तीन भेद हैं। इन भेदों को इच्छा, ज्ञान और क्रिया, या सूर्य, चन्द्र और अग्नि, या ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहते हैं। त्रिकोण अग्निचक्र के ऊपर पहला चार दलों-वाला मूलाधार चक्र है। इसके पश्चात् छ दलोंवाला स्वाधिष्ठान चक्र है। इसके अनन्तर दस दलोंवाला मणिपूरक (नाभि पद्म) चक्र है। इस चक्र के ऊपर हृदय के पास बारह दलोंवाला अनाहत चक्र (हृत्पद्म) है। कण्ठ के पास सोलह दलोंवाला विशुद्धाख्य चक्र है। इसके अनन्तर आज्ञाचक्र केवल दो दलों का है। यह ही हठयोग के प्रसिद्ध षट चक्र हैं। इन चक्रों के भेदन के पश्चात् मस्तक में का शून्य चक्र मिलता है। यहाँ पर जीवात्मा को पहुँचा देने का लक्ष्य योगी का होता है। इस चक्र में स्थित कमल हजार दलों का है; कभी कभी इसको सहस्रार चक्र भी कहा जाता है। योगियों का कैलाश या गगन-मण्डल यही चक्र है। इन सात चक्रों के ऊपर, भी एक सुरति कमल

(अष्टम चक्र) है। इसकी कल्पना संत मत में है, ऐसा विचार-दासजी का कथन है। सुरति कमल में विलास करनेवाला योगी, समाधि टूटने के बाद भी विकाररहित रहकर पुनः भ्रष्ट नहीं होता है। चक्रों को उन्मुकुलित करने के लिए पद्मासन अथवा वज्रासन अधिक उपयुक्त होता है। इन उपर्युक्त चक्रों की बनावट, रंग, देवता, वाहन, अक्षर आदि पर यहाँ अनावश्यक समझ कर विचार नहीं किया जा रहा है।

मानव शरीर में ३५०,००० नाड़ियाँ कही जाती हैं, पर इनमें बहुत थोड़ी ही मुख्य हैं। इडा और पिंगला नाड़ियाँ नासारन्ध्रों में से चलती हैं। बांई ओरवाली नाड़ी इड़ा है जिसे संत लोग अनुप्रास के फेर में 'इंगला' कहते रहते हैं। पिंगला नाड़ी दाईं ओर है। इन दोनों के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है जो कि स्वयं तीन नाड़ियों का एकीभाव है। इस प्रकार इन पाँच नाड़ियों के समूह को योगी 'पंच स्रोतः' कहते हैं पर इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना इन तीन नाड़ियों की ही चर्चा संत साहित्य में है। इनको संत क्रमशः गंगा, यमुना और सरस्वती कहते हैं और ब्रह्मरंध्र में जहाँ इनका संगम हुआ है उसे त्रिवेणी कहा गया है। साधक जब साधना करता है तो उसे पहले मेघ गर्जन, शंख, वंशी आदि की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। अन्त में अनाहत ध्वनि या अनहद नाद सुनने का वह अधिकारी हो जाता है। हठयोग में शरीर की शुद्धि के लिए भी षटकर्मों का विधान है।

सन्धा भाषा

सहजयानियों में उल्टी बानियों को 'सन्ध्या (सन्धा) भाषा' कहा गया है। मूल शब्द सन्धा, संस्कृत शब्द 'संधाय' का अपभ्रष्ट है। 'सन्धा भाषा' का अर्थ 'अभिप्राययुक्त' वाली भाषा है। अपने अवनति काल में बौद्ध धर्म इस प्रकार की उल्टी बानियों का बहुत प्रसार करने लगा। पारिभाषिक शब्दों के द्वि-संकेती होने के कारण उनका शाब्दिक अर्थ अति ही विचित्र होता था। प्रकृति की परम्परा के विरुद्ध अर्थ निकालकर उल्टी बानियाँ बहुत प्रसिद्ध होने लगीं। गोरखनाथ का यह ऋण कबीर पर हुआ और फलस्वरूप कबीर के पद भी गोरखधन्धा बन गए। हठयोग के ग्रन्थों में पारिभाषिक शब्दों का जो अर्थ उपमान द्वारा निकाला जाता रहा है, यह शास्त्र की परम्परा कबीर ने उसी प्रकार से नहीं अपनाई है। कबीर ने 'पूत', 'मूसा' आदि शब्दों का अर्थ जीवात्मा के लिए किया है तो 'बांझ माता' और 'बिलैया' का अर्थ माया के लिए। विद्वानों की धारणा है कि योगियों के साहित्य में ऐसे प्रयोग नहीं मिलते हैं। कबीर की यह मौलिक अवतारणा उनकी स्वतंत्र वृत्ति की परिचायक है।

योगपरक रूपक

समझाने के लिए प्रस्तुत का उदाहरण दिया जाता है और जब उसका साम्य अप्रस्तुत से सब धर्मों में समान होता है तब कथन की शैली अति ही भावग्राहक हो जाती है। कबीर प्रेम मद

में मस्त रहते हैं। वे हरिरस प्रेम धारा का सबको पान कराना चाहते हैं। यही भाव कबीर की कई साखियों और पदों में है। इसे वे योग (हठयोग) की क्रिया की सहायता से रूपक द्वारा समझाते हैं—

"अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै, त्रिभवन भया उजियारा।
गुड़ करि ग्यांन ध्यांन कर महुवा, भव भाठी करि भारा।
सुषमन नारि सहजि समांनीं, पीवै पीवनहारा।
दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी, चुया महा रस भारी।
काम क्रोध दोइ किया बलीता, छूटि गई संसारी।
सुंनि मंडल मैं मंदला बाजै, तहां मेरा मन नाचै।
गुर प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमनां काछै॥
पूरा मिल्या तबैं सुष उपज्यौ, तन की तपति बुझानी।
कहै कबीर भव बंधन छूटै, जोतिहि जोति समानी॥'

—ग्रं० पद० ७१।

कबीर संसार की भट्ठी में ज्ञान के गुड़ और ध्यान के महुवे से महारस बनाकर, सहज समांनीं सुषुम्ना की नली से पीते हैं। काम क्रोध के ईंधन से भट्ठी जलती रही। रस मस्त होते ही समस्त त्रिलोक में प्रकाश दीख पड़ा। इस भट्ठी के रूपक द्वारा कबीर अपना मत प्रकट करते हैं। इस पद में 'सुषमन', 'सुंनि मंडल' आदि कुछ शब्दों से अधिक रहस्यमय बन गया है। कबीर कभी-कभी पद के अन्त में कोई चमत्कारी बात कह कर

और भी गूढ़ बन जाते हैं, जैसे—'गुर प्रसाद सूई के नांके, हस्ती आवैं जांहीं"। यह तो एक पहेली है कि सूई के छिद्र में से किस प्रकार हाथी आ-जा सकता है। पर इन पहेलियों के खिलाड़ी जानते हैं कि यहाँ पर इसका उत्तर यह होगा कि आँख का तारा सुई के छिद्र जितना ही बड़ा होता है, पर उससे बहुत बड़े पदार्थ देखे जा सकते हैं। कबीर के रूपकों में से कई ऐसे भी हैं जिनमें उन्होंने योग शब्दावली का बिलकुल भी उपयोग नहीं किया है। इन रूपकों में ही क्या कबीर सभी रूपकों में माया और जीव का घात प्रतिघात व्यक्त करते हैं। वे इसी जीव को ब्रह्म से मिलाते हैं तो षटचक्र में चढ़ाकर अनहद नाद सुना देते हैं। अहंकार, काम, क्रोध को नष्ट करने के लिए वे दीपक का रूपक अपनाते हैं और अज्ञान को भगाने के लिए आँधी का। कबीर का एक सुंदर आँधी का रूपक है—

"संतो भाई आई ग्यान की आँधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उड़ाणीं, माया रहै न बांधी।
हिति चित की द्वै थूंनीं गिरांनीं, मोह बलींडा तूटा।
त्रिस्नां छांनि परी घर ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा।
जोग जुगति करि संतौं बांधी, निरचू चुवै न पांणीं।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जांणीं।
आंधी पीछैं जो जल बूठा, प्रेम हरी जन भींनां।
कहै कबीर भांन के प्रगटें, उदित भया तम षींनां॥"

—ग्रं० पद० १६।

कबीर का एक रूपक शरीर को तरुवर मानकर चलता है। इसमें षटचक्रों में से कुछ का संकेत उनका नाम न देकर केवल उनके दलों की संख्या देकर किया है। कबीर यहाँ पर कुछ शास्त्र की त्रुटि को अपनाते हैं—

"तरवर एक अनंत मूरति, सुरता लेहु पिछांणी।
साखा पेड फूल फल नांही, ताकी अमृत बांणी।
पुहप बास भवरा एक राता, बारा ले उर धरिया।
सोलह मंझें पवन झकोरै, आकासे फल फलिया॥"

—ग्रं० पद० १९६।

इसमें उर के पास स्थित बारह दलवाले अनाहत चक्र और सोलह दलवाले विशुद्ध चक्र का संकेत है। षटचक्रों से जो विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उस पर कबीर ने नहीं लिखा है। एक स्थान (क० ग्रं० पद० ४) पर कबीर कुछ गहरे उतरे हैं। उन्होंने चक्रों में स्थित देवताओं के नाम गिनाये हैं, पर वे ठीक नहीं बन पड़े हैं। ठीक भी, "मसि कागद छुवै नहीं" ऐसे कबीर से शास्त्र की आशा नहीं कर सकते। कबीर के योगपरक रूपक जनता को समझाने के लिए अति उत्तम साधन थे। इन रूपकों की एक बड़ी विशेषता है और वह इनकी रोजमर्रा के घरेलू विषयों के रूपक बाँधना। कबीर के माया के रूपक अद्वितीय हैं। एक रूपक में उन्होंने माया का बँधान, गृहस्थी के संबंधियों को लेकर बाँधा है। कबीर कहते हैं कि मैं मेरी सासु (माया) से दुःखी हों, पर ससुर (गुरु) की प्यारी हूँ। जेठ (असाधु)

से डरती हूँ। देवर (साधु) बिना बिकल हूँ। सखी, सहेली, ननँद आदि इन्द्रियों ने जकड़ रखा है। मेरा पिता (अहंकार) कलहप्रिय है। माँ (प्रकृति) बहुत चंचल है। अपने भाई (सहज) के साथ रहने से पिय (परमात्मा) की प्यारी बनूँगी। यथा—

"सेजैं रहूँ नैंन नहीं देखौं,
यहु दुख कासौं कहूँ हो दयाल।
सासु की दुखी सुसर की प्यारी, जेठ के तरसि डरौं रे।
नणंद सुहेली गरब गहेली, देवर के बिरह जरौं हो दयाल।
बाप सावकौ करै लराई, माया सद मतिवाली।
सगौ भईया लै सालि चढ़ि हूँ, तब है हूं पीयहि पियारी।
सोचि बिचारि देखौ मन मांहीं, औसर आइ बन्यूं रे।
कहै कबीर सुनहुं मति सुंदरि, राजा राम रमूं रे॥"
—ग्रं० पद० ३३०।

कबीर के रूपकों में बहुत स्थानों पर संख्यावाचक विशेषण आए हैं, जिनका कि अर्थ शास्त्रीय परम्परा से लग सकता है। जैसे पाँच का अर्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ होंगी—

"पंच संगी पिव पिव करै, छठा जु सुमिरै मंन।
आई सूति कबीर की, पाया राम-रतंन॥"

कहीं-कहीं पाँच का अर्थ पंच तत्वों के लिए हुआ है। नव और दस का अर्थ क्रमशः द्वार और इन्द्रियों के रूप में प्रसंगानुसार शास्त्रीय परम्परानुसार हुआ है—

अभिप्राययुक्त यह बानियाँ बहुत अंशों में सहजिया सिद्धों की 'सन्धा भाषा' का अनुकरण है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन इतना और बताते हैं कि उलटबाँसी सदा रूपक ही होती है, पर सन्धा भाषा के पद रूपक न भी हों। * जनता इन उलटबाँसियों को सुनकर चकित रह जाती होगी और अर्थ बोध होने पर इनमें जो सरल भाव निहित होते हैं, उन्हें हृदयङ्गम कर लेती थी। कुछ विद्वानों का मत है कि इनकी रचना रहस्य को गुप्त रखने के लिए होती थी; यह ठीक नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि इनमें जो भाव निहित हैं वे अति ही सरल और अन्यत्र कई स्थलों पर साधारण पदों में पाये जाते हैं। यह तो भाव प्रदर्शन की शैली मात्र है, जिससे साधारण पदों की अवज्ञा करने वाले चमत्कार से प्रभावित होकर कुछ तो ज्ञान प्राप्त कर लें। इसमें सन्देह नहीं कि आकर्षण की शक्ति उलटबाँसियों में आते ही तीव्र होती है। समाज में वारुणी पीना, महापाप है, पर इसे जब भले पुरुषों का धर्म कहा गया, तब साधारण ही क्या विचारक मस्तिष्क भी एक बार हड़बड़ा उठा। उनका ध्यान इस कथन की ओर आकर्षित हुआ। शंका का समाधान भी होता गया कि तालु नीचे जो चन्द्र स्थित है, वहाँ से अमृत क्षरा करता है। यही अमृत रस, वारुणी तथा महावारुणी है। दूसरा उदाहरण 'बाल

---

* सरस्वती भाग ३२ पृ० ७१५-१९।

विधवा' का लीजिए। समाज 'बालविधवा' का सम्मान माता और बहिन की दृष्टि से करता है। इसके प्रतिकूल कथन है कि बाल-रण्डा को बलपूर्वक ले जाना और उसका उपयोग करना विष्णु-पद पाना है। समाज में बलात्कार तो अति ही नीच और पातक कर्म है। इसका समाधान हुआ कि बालरण्डा (बाल विधवा) तो कुण्डलिनी है, जिसे सुषम्ना में ऊपर उठाना, मुक्ति का साधन है। "हठयोगप्रदीपिका" में ऐसे कई विरोधाभास हैं। इन पहे-लियों का जो इष्ट था वह कुछ वर्षों बाद आगे जाकर नष्ट हो गया और गत शताब्दी से तो यह शैली समाज में अश्लील लोक गीतों को प्रसव देने लगी है।* इन गीतों में अश्लीलता की प्रति-द्वंद्विता तो है ही, पर वास्तव में यह पद उपर्युक्त सन्धा भाषा (ऊलटबाँसियों) के अपभ्रष्ट रूप हैं। होरी के दिनों में गाए जाने वाली धमार, योगियों के हाथों में 'धमाली' (अश्लील गीत) हो गई। यह उलटफेर देश भर में हुई। राजस्थान भी इस अवनति में हाथ बँटाता रहा। जोधपुर में होली के दिनों में गाए जाने वाले 'फाल्गुणया गीत', उनके गायकों की मुद्रा और उनका प्रदर्शन बड़ा भयंकर होता है। आर्य-समाज के प्रचार के कारण अब तो सभ्य समाज इसे

---

* पंडित हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने 'जोगीड़ा' और 'कबीर' नामक गीतों की ओर संकेत किया है। आपका निर्देश आगे चलकर आशा है एक नई शोध का कारण बनेगा।

-तत्व रहा है, पर निम्नश्रेणी के लोग इन गीतों और प्रदर्शनों से चिपटे हुए हैं। जोधपुर में नाथ सम्प्रदाय का प्रबल प्रचार रहा। महाराजा मानसिंह ने इस मत को अपनाकर (वि० संवत् १८६० में) सम्पूर्ण जोधपुर को नैपाल सा बना दिया। इस पृष्ठ-भूमि में शक्ति के उपासक, विलासिता में फँसकर, इन गीतों की ओर अग्रसर हुए। कुछ भी हो प्रस्तुत प्रसंग से संबंधित यही ज्ञातव्य है कि यह ऊलटबाँसियाँ रहस्य गोपन के साधन न थीं और न बनीं वरन् समाज में, अश्लीलता की प्रसवदात्री हो गई।

कबीर रचित ऊलटबाँसियों में समाज विपरीत विषयों को लेकर रूपकों की रचना हुई है। इन रूपकों में प्रथम तो ब्रह्म, माया और जीव के रूपक हैं और दूसरे हठयोग की साधना के। कबीर की ऊलटबाँसियों में पाठक और श्रोता के लिए सुलझाने का निमंत्रण भी है। उपदेशों के प्रति उपेक्षा रखनेवाला भी इन आह्वानों की ओर एक बार अवश्य आकर्षित हो जाता है, जैसे कबीर की ललकार है—

"पंडित होइ सु पदहि बिचारै, मूरिष नांहिन बूझै।" और

—ग्रं० पद० १६०।

"कहै कबीर ताहि गुर करौं, जो या पदहि बिचारै।" आदि।

—ग्रं० पद० १६१।

ऊलटबाँसियों में विरोधाभास का विषय पशुओं के जन्मगत बैर और पारिवारिक संबंध हैं। इन सर्वसुलभ हमारे निकट की घटनाओं का विरोधाभास जनता को अधिक आकर्षक कर सकता

है। यदि कहें कि "गाइ नाहर खायौ काटि काटि अंगा" (पद १६०) या "हरनि खायौ चीता" तो सहज में कोई मानने को तैयार न होगा। और यदि कहें कि माँ के पहले ही पुत्र उत्पन्न हो गया तो इस असम्भव कथन पर लोगों को हँसी आवेगी। इन रूपकों को जब सुलझाकर स्पष्ट किया जाता था, तब श्रोता दाँतों तले अँगुली दबाकर चकित रह जाते होंगे। एक उलटी को सअर्थ देखिये—

"एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई।
पहले पूत पीछैं भई माइ, चेला कै गुर लागै पाइ।
जल की मछली तरवर ब्याई, पकरि बिलाई मुरगै खाई।
बैलहि डारि गूंनि घरि आई, कुत्ता कूं लै गई बिलाई।
तलि करि साषा उपरि करि मूल, बहुत भाँति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद कौं बूझै, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझै।

—ग्रं० पद ११

अर्थ है—ऐ भाई एक अचम्भा देखो, सिंह खड़ा खड़ा गाय को चरा रहा है। पहले पुत्र हुआ और पश्चात् माँ हुई। शिष्य के पाँव गुरू पड़ रहा है। जल में रहने वाली मछली पेड़पर जाकर जनती है। मुर्गे ने बिल्ली को पकड़ कर खा लिया। बैल तो खड़ा ही रहा और गोनि गृह में प्रवेश कर गई। बिल्ली कुत्ते को दबोच ले गई। पेड़ की जड़ के ऊपर रखकर और डाली, पत्ती आदि को नीचे कर दें। इस जड़ में फूल खिले हैं।

इस पद को जो समझ जावे, वह त्रिलोक को समझ सकता है। इस पद का आध्यात्मिक पक्ष में उत्तर होगा—

"ज्ञान द्वारा वाणी समृद्ध होती है। प्रथम जीव उत्पन्न हुआ और पश्चात् माया प्रकट हुई। जोवात्मा की शरण में शब्द जाता है। कुंडलिनी जागृत होकर मेरुदंड पर चढ़कर फलवती होती है। माया ने अज्ञानी (मुरगा या कुत्ता) को नष्ट कर दिया। पंचप्राण तो घरे ही रह गए, स्वरूप की सिद्धि घर में बस गई। मूल तो मस्तिष्क में है जिसमें कमल खिले हैं और शाखा आदि नीचे हैं। ऐसा शरीर में वृक्ष का बोध कर, तब तीनों लोकों का ज्ञान प्राप्त होगा।"

रूपक की शब्दावली

सिंघ—ज्ञान। गाई—वाणी। पूत—जीव। माइ—माया। चेला—जीवात्मा। गुर—शब्द। मछली—कुण्डलिनी। तरवर—मेरुदंड। बिलाई—माया। मुरगा या कुत्ता—अज्ञानी। बैठ—पंचप्राण। गूंनि—इष्टस्वरूप। घर—शरीर। फूल—आज्ञा चक्र, सहस्रदल कमल आदि।

उपर्युक्त प्रकार के गोरखधन्धों की कुञ्जियाँ कालांतर में अप्राप्य होती गई और फलस्वरूप टीकाकारों ने अर्थ लगाने में स्वतंत्रता से काम लिया है। रीवाँ नरेश महाराजा विश्वनाथसिंह जू और महंत विचारदास शास्त्री की टीकायें बहुत ही परिश्रम के बाद बन पड़ी हैं। अर्थ लगाने में यह टीकायें अवश्य भिन्न हैं, पर विचारदासजी की टीका अधिक शास्त्रीय परम्परा के निकट

होने से महत्वपूर्ण है। कबीर के बीजक की पांडित्यपूर्ण टीका विचारदास कृत, इस संबंध में जिज्ञासुओं के लिए द्रष्टव्य है। धर्माधिकारी विचारदास कृत कबीर के पद की टीका को यहाँ मूल पद और टीका सहित उद्धृत करते हैं।

"संतो बोले ते जग मारे।
मन बोले ते कैसक बनिहै, सब्दहि कोई न विचारे।
पहिले जन्म पूत को भयऊ, बाप जनमिया पाछे।
बाप पूत की एकै नारी, ई अचरज को काछे॥
इंदुर राजा टीका बैठे, विषहर करै खबासी।
स्वान बापुरा धरनि ढाँकनो, बिल्ली घर में दासी॥
कागद कार कार कुट आगे, बैल करै पटवारी।
कहहि कबीर सुनो हो सन्तो, भैंसे न्याय निवेरी॥

टीका—"हे सन्तो! मैं सत्य उपदेश कहता हूँ तो अज्ञानी लोग मेरे साथ झगड़ा करते हैं, अतः बिना कहे कैसे बोध होगा, कहने पर भी तो मेरे वचनों को कोई नहीं विचारता है। बात यह है कि पहले पुत्र (जीव) का जन्म हुआ और पीछे पिता (ईश्वर) का जन्म हुआ, अर्थात् जीव ही अपने अनुमान प्रमाणादिकों से ईश्वर की सिद्धि करता है। बाप (ईश्वर) और पूत (जीव) की एक ही नारी है, इस अचरज को कौन काछे (हटावेगा) अर्थात् माया ने जीव और ईश्वर को अपने अधीन कर लिया है। और देखिये अज्ञानी मनुष्य इन्दुर (चूहे) के समान है, वह अज्ञानता से अपने को राजा माने बैठा है और

विषहर-सर्प (मन) उसकी सेवा में रहता है। सर्प सेवक की सेवा से चूहे स्वामी की भलाई कैसे हो सकती है? यह भी एक अचरज ही है कि श्वान रूप संकल्प पति बना हुआ है, और बिल्ली रूप मन की वृत्ति उसके घर की स्त्री बनी हुई है, कागज कार जो कारकुन (अविचारी) है उसके आगे बैल रूपी अविवेकी पटवारगरी करते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो! भैंसा रूप वञ्चक गुरु संसार में उपदेशक बने हुए हैं। भावार्थ यह कि! अज्ञानवश जीव अहित को हित समझ लेता है, अतः सत्य उपदेश के बिना सत्यमार्ग कदापि नहीं मिल सकता है।*

---

* कबीर सन्देश भाग १, अंक १, पृष्ठ १२।

संपादक—उदयशंकर शास्त्री।

कबीर का रहस्यवाद

कबीर के समान अक्खड बनकर कहा जाय तो बात यह है कि कबीर भी ठोंक पीटकर शुद्ध रहस्यवादी कवि सिद्ध कर दिए गए हैं। ऐसी धारणा का कारण आधुनिक आलोचना की प्रवृत्ति विशेष ही है। 'रहस्यवाद' को लेकर साहित्य जगत में बहुत पूल बाँधा जा चुका है। वाद पर विवाद तो नहीं हुआ वरन् वितंडवाद का रूप धारण कर, इस चर्चा ने दलबंदी खड़ी कर दी। जब 'रहस्यवाद' का स्वरूप या उसकी परिभाषा ही वादग्रस्त है तब प्रथम इस पर कुछ विचार विमर्श कर आगे बढ़ना चाहिए। स्व० आचार्य शुक्लजी ने रहस्यवाद को एक साम्प्रदायिक वस्तु माना है न कि काव्य का कोई सामान्य सिद्धान्त।[1] "यहूदी ईसाई इसलाम के बीच तत्त्वचिंतन की पद्धति या ज्ञानकाण्ड का स्थान न होने के कारण, मनुष्य की स्वाभाविक बुद्धि या अक्ल का दख़ल न होने के कारण, अद्वैतवाद का ग्रहण रहस्यवाद के रूप में ही हो सकता था। इस रूप में पड़कर वह धार्मिक विश्वास में बाधक नहीं समझा गया। भारतवर्ष में तो वह ज्ञानक्षेत्र से निकला और अधिकतर ज्ञानक्षेत्र में ही रहा; पर अरब, फारस

---

१ काव्य में रहस्यवाद, शुक्ल कृत पृ० १०८।

आदि में जाकर वह भावक्षेत्र के बीच मनोहर रहस्य भावना के रूप में फैला।"[1] आगे चलकर स्थिति को स्पष्ट कर दिया कि "अद्वैतवाद मूल में एक दार्शनिक सिद्धांत है; कवि-कल्पना या भावना नहीं। वह मनुष्य के बुद्धि-प्रयास या तत्व-चिंतन का फल है। वह ज्ञानक्षेत्र की वस्तु है।"[2] शुक्लजी के मत से जब अद्वैतवाद का सहारा भावना या कल्पना लेकर उठती है तब 'भावात्मक रहस्यवाद' की ओर जब योग के अप्राकृत और जटिल अभ्यासों को अपनाती है तब 'साधनात्मक रहस्यवाद' की प्रतिष्ठा होती है। दर्शन के क्षेत्र में रहस्य भावना रही पर काव्यगत रहस्यवाद की उत्पत्ति, भक्ति की व्यापक व्यंजना के लिए फारस, अरब आदि पैगंबरी मत वाले देशों में ठीक हुई।

उपर्युक्त विचारधारा के विपक्ष और पक्ष में बहुत लिखा जाता रहा है। 'रहस्यवाद' के विवाद में उभय पक्ष ने एक बहुत बड़ी त्रुटि की कि उन्होंने कभी भी 'रहस्य-भावना', 'रहस्यवाद' आदि शब्दों की परिभाषा और देशकालानुसार अर्थों को निश्चित नहीं किया। 'रहस्यवाद' के दर्शन और इतिहास पर विवेचना करने का यहाँ अवकाश नहीं है पर इन शब्दों का हम प्रस्तुत चर्चा के लिए अर्थ निश्चित कर लेते हैं। 'रहस्य' का सीधा-सा अर्थ है कोई ऐसी बात जो कि गुप्त, गुह्य, छन्न अथवा एकान्त

१ जायसी ग्रंथावली (भूमिका) शुक्लसंपादित पृ० २०६।

२ वही, पृ० २०७। उपर्युक्त दोनों पुस्तकों के अतिरिक्त शुक्लजी का इन्दौरवाला अभिभाषण पठनीय है।

हो। 'रहस्य भावना' का अर्थ तो सरल ही है, पर विशिष्ट अर्थ में इसका अर्थ होगा, अन्तस्थ, किन्तु अव्यक्त, सर्वव्यापी, परब्रह्म से योग की अनुभूति। 'रहस्यवाद' शब्द का आधुनिक व्यवहारिक अर्थ शुक्लजी के मतानुसार पाश्चात्य मिस्टिसिज्म ही लेना चाहिए। इस प्रकार का 'रहस्यवाद' अवश्य ही विदेशी साम्प्रदायिक वस्तु है। अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद, आर्य जाति का अतिप्राचीन दार्शनिक सिद्धान्त है। आत्मा और परमात्मा की एकता, तथा ब्रह्म और जगत की अभिन्नता का बोध एक रहस्य है जो कि भारतीयों के लिए सहज है। पर जिन मतों में भक्त और परम-पिता के मध्य में कोई दूत रहता है वहाँ सीधा संबंध जोड़ना अधर्म है, इस हेतु स्वतन्त्र वृत्तिवालों ने रहस्य का पल्ला पकड़ा और भाँति-भाँति से उससे साक्षात्कार करने लगे। यह प्रणाली जब काव्य में घर कर गई तब 'रहस्यवाद' नामक एक मत (स्कूल) बना लेती है। शुक्लजी रहस्यवाद की साधना के विरुद्ध नहीं हैं पर काव्य में, आप रहस्यवाद का पक्ष न लेकर उसे विदेशी कहते हैं। इसका कारण यह बताते हैं कि काव्य में रहस्यवाद की गुञ्जाइश नहीं क्योंकि उसके लिए कोई प्रकृत आलम्बन न होने से वह काव्य में नहीं ठहर सकता। काव्य में रहस्य-भावना को वे मानते हैं। इस रहस्य-भावना को, कवितावद्ध उद्गारों में यदि प्रस्तुत किया जावे, तो हमारी समझ में शुद्ध भारतीय अर्थ से 'रहस्यवाद' होगा। (ध्यान रहे यहाँ 'रहस्यवाद' का पाश्चात्य अर्थ नहीं ले रहे हैं क्योंकि रहस्य भावना हमें अगोचर और

अव्यक्त की ओर नहीं ले जाती है।) यहाँ पर 'रहस्यवाद' का यह अर्थ इसीलिए निश्चित किया है, क्योंकि यह शब्द हिन्दी समीक्षा-क्षेत्रों में अपना लिया गया है, अन्यथा इसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है।

रहस्यवाद क्या है? पूछा जावे तो इसकी परिभाषा होगी—"रहस्यवाद, जीवात्मा की उस रहस्यमयी प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह अन्तःस्थ किन्तु अव्यक्त, परब्रह्म से योग कर लेती है और उसी ब्रह्म को जगत में सर्व व्याप्त पाती है।" कबीर में रहस्य-भावना या अद्वैत का प्रतिपादन या रहस्यवाद कितना है और कैसा है? पर अब विचार करना चाहिए।

विदेशी प्रभाव

कबीर का रहस्यवाद बहुत अंशों में तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ीमत से प्रभावित है। इस कथन के पक्ष और विपक्ष में दो मत हैं। "कबीर ने भारतीय ब्रह्मवाद और सूफ़ियों की प्रेम-भावना मिलाकर जो 'निर्गुण संत मत' खड़ा किया",[१] उस पर सूफ़ियों का प्रभाव नहीं है, ऐसा कुछ लोग मान रहे हैं। इन लोगों का यह कथन कुछ अस्पष्ट ही है। भारतीय भक्ति-साधना में प्रेम अनादि काल से चला आ रहा है और भारत के लिए वह नई वस्तु नहीं है, पर इन कथनों के आधार पर यह तो सिद्ध नहीं होता कि कबीर की प्रेम-भावना शुद्ध भारतीय परम्परा में है। कबीर के

---

१. जायसी-ग्रंथावली (भूमिका) शुक्ल कृत, पृ० २१२।

काल में प्रेम-भावना यदि प्रसारित और प्रचारित हुई तो सूफियों द्वारा। यह कहना कठिन है कि कबीर सूफियों की प्रेम पीर से दामन बचाते रहे और भारतीय प्रेम-साधना को शास्त्रों में से खोजते रहे। भूलना नहीं चाहिए कि कबीर एक मुस्लिम थे। इस कारण उनका सम्पर्क सूफियों से होना पूर्ण सम्भव है। इसके अतिरिक्त कबीर सतसंगी जीव थे। सूफियों से उन्होंने प्रेम-भावना को अपनाया होगा क्योंकि उक्त समय में यह आकर्षण का साधन थी। निर्गुणी संत जो सकल जग के उपासक, सकल जीवों के बन्धु और सकल धर्मों को एक ज्योति से प्रभावित हुआ मानते हैं उनमें कोई एक ही संस्कृति का विधान रहेगा, कहना उचित नहीं। कबीर के प्रत्येक विषय को भारतीय सिद्ध किया जा सकता है पर यह तर्क के आधार पर ही होगा। अज्ञात दार्शनिक विचारों को खोजकर उनका अनुकरण कबीर में दिखाया जा सकता है पर क्या यह कबीर के काल में भी लोक व्यवहार में थे, सचोट नहीं कहा जा सकता। तब यह प्रवृत्ति हमारे लिए त्याज्य है।

इसका यह अर्थ भी नहीं लगाना चाहिए कि कबीर ने अपने रहस्यवाद के नुस्खे में भारतीय ब्रह्मवाद और सूफीमत से प्रेम-भावना को लेकर, उनका विधान किया। कबीर ने अपने विचार मात्र प्रकट किए हैं, जिनमें जिज्ञासु कुछ दार्शनिक तत्व पाता है। पर विपक्ष वाले आलोचक दार्शनिक मान दंड से जब कबीर के सिद्धांतों को नापते हैं तब कबीर के काल को और कबीर की

शिक्षा को भूल जाते हैं। वे शुष्क तार्किक नापने वाले मात्र रह जाते हैं और उनका लेखा-जोखा गणित का अभ्यास हो जाता है। सतसंगी कबीर पर देशकाल की सभी वृत्तियों का रंग है, इसको मानने का सहज कारण है। यह तो हुई बाह्य समाधान की चर्चा, अब कबीर की सूफि प्रेम-भावना को उसके समर्थकों से ही सुनना चाहिए।

स्व० आचार्य शुक्ल जी का निष्कर्ष था कि "निर्गुण शाखा के कबीर, दादू आदि संतों की परम्परा में ज्ञान का जो थोड़ा बहुत अवयव है वह भारतीय वेदांत का है; प्रेम-तत्त्व बिल्कुल सूफियों का है।"[1] कबीर को यह सब प्राप्त हुआ। सतसंग से यह सदा ध्यान में रखना चाहिए। शुक्ल जी के पट्ट शिष्य पं० चन्द्रबली पाण्डेय, इस कथन को खुलकर स्वीकार करते हैं कि सूफी शब्द के अर्थ को कुछ अधिक संकुचित कर हम आसानी से कबीर को स्वतंत्र दल का सूफी मान सकते हैं।[2] उक्त विद्वान अपनी शोध को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं, "अच्छा होगा यदि स्वयं कबीर के जिन्द रूप को लिया जाय और उन्हीं के प्रमाण पर प्रत्यक्ष कर दिया जाय की वास्तव में उनका मत रूप क्या था? कबीर का एक पद है—

"कहा अपराध संत हो कीन्हों, बांधि पोट कुंजर कू दीन्हा।
कुंजर पोट बहु बंदन करै, अजहू न सूझै काजी अंधरे।

1. वही, पृ० २१२।
2. ना० प्र० पत्रिका, भाग १४, अंक ४, पृ० ५५०।

''तीनि बेर पतियारा लीन्हा, मन कठोर अजहू न पतीना।
कहै कबीर हमारे गोब्यंद, चौथे पद मैं जन का ज्यंद ॥"[1]

'ज्यंद' क्या दूसरा पाठ 'जिंद' भी मिलता है।[2] इस शब्द का अर्थ स्व० बड़थ्वाल जी ने जीवन्मुक्त माना था।[3] मेकालिफ साहब भी ऐसा मान चुके थे। इस 'जिंद' का सीधा सा अर्थ पाण्डेय जी 'जिन्दीक' लगाते हैं। उनका कहना ही नहीं वरन् प्रमाणों के आधार पर शोध है कि कबीरी साहित्य में कबीर बराबर 'जिंद' ही कहे जाते हैं।[4] 'जिन्दीक' कौन थे? प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर पाण्डेय जी के शब्दों में होगा "मुसलमानों में जो स्वतन्त्र विचार रखते थे और बात बात में आसमानी किताबों की दाद नहीं देते थे, मुसलिम उन्हें जिंदीक कहने लगे। सूफियों में अनेक ऐसे भी हुए जिन्हें प्रियतम का साक्षात्कार अनायास ही हो गया। उनको शरीअत (कर्म काण्ड) या

---

१. कबीर-ग्रंथावली, पृ० ३६५।

२. वही (परिशिष्ट) पद १५५। 'संत कबीर' में 'जिंदु' पाठ है, पृ० १६७ रागु गौंड पद ४। डॉ० वर्मा 'जिंदु' का अर्थ अन्यों सा ही आत्मा के लिए लगाते हैं।

३. पाण्डेयजी का लेख, "जिन्द कबीर की संक्षिप्त चर्चा" (विचार-विमर्श सम्मेलन, प्रयाग) पृ० ६।

४. तसव्वुफ़ अथवा सुफ़ीमत, ले० पं० चन्द्रबली पाण्डेय, पृ० ५० की पाद टिप्पणी।

तरीकत (उपासना काण्ड) के आचरण की आवश्यकता न पड़ी। उनको उनमें कुछ तथ्य दिखाई न दिया। उनका संघ स्वतंत्र हो गया। उनको 'आज़ाद', 'बेशरा', 'ज़िंदीक़' आदि की उपाधि मिली। उनमें मारिफत (ज्ञान काण्ड) और हकीकत (ज्ञान निष्ठा) का आलोक रहा।"[1] "व्यवहार में तो सूफी मजहब के पाबंद होते हैं और जिंदीकों की इसीलिये निन्दा भी खूब करते हैं।"[2] कबीर इसलामी सूफी नहीं हैं वरन् गैर इसलामी अथवा "आज़ाद" सूफी कुछ अंशों में अवश्य हैं।

कबीर का रूप बराबर विवाद का विषय रहा है। "अख़-बारुल अख़यार" के लेखक मौलवी अब्दुलहक़ ने अपने चचा शेख़ रिज्कुल्लाह के बारे में लिखा है कि उन्होंने एक दिन अपने पिता शेख सादुल्लाह से पूछा कि कबीर मुसलमान था या काफिर, तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह 'मोवाहिद' था। इसपर उन्होंने कहा कि 'मोवाहिद' तो 'ग़ैर काफ़िर' होता है। यह सुनकर उन्होंने बताया कि इसकी व्याख्या बड़ी कठिन है, इसको स्वयं हृदयंगम करना चाहिए।"[3] तात्पर्य यह है कि कबीर 'एकवादी' होते हुए भी इसलाम के पक्के पाबन्द न थे। पर वे हिन्दू भी न थे। यह निर्विवाद माना जा सकता है कि कबीर का सूफी

---

१. वही, पृ० १२-१३।

२. वही, पृ० १४५।

३. विचार-विमर्श (सम्मेलन, प्रयाग) पृ० ७।

सतसंग से कुछ अपनाने योग्य अवश्य मिला। उपर्युक्त पद में आए 'जिद' को यदि क्षेपक कहकर टाल भी दिया जाए तो कबीर में व्याप्त प्रेम की प्यास उनके सूफी ऋण की साक्षी भरती रहेगी। यह मानते हैं कि 'प्रेम प्याला' भारत की निजी चिंता और कल्पना का प्रसव है और इतिहास द्वारा बताया भी जा सकता है कि भारत में ऐसे अनेक रहस्य सम्प्रदायों की परम्परा अविच्छिन्न रही, पर इन सम्प्रदायों से क्या कबीर का नाता था? या उनके काल पर प्रभाव पड़ा, विवाद का विषय तो जाता है। आज भले ही कबीर के प्रेम प्याले को भारतीय रहस्य सम्प्रदाय में रखा बताया जा सकता है पर कबीर की पहुँच वहाँ तक थी सिद्ध करना असम्भव है। कबीर सूफी सतसंग में 'प्रेम पियाले पीवन लागे'[1] क्योंकि 'राम कौ नांव अधिक रस मीठो'[2]। कबीर इस प्रेमरस के रहस्य को पाकर, इसका प्रचार भी करना चाहते थे—

"दास कबीर प्रेमरस पाया, पीवणहार न पाऊँ"[3]। कबीर के इस पक्ष को जो 'पिछाणत नाहीं', उनको पूछा जा सकता है, "कहु क्या काढ़ि दिखाऊँ?"।

कबीर में रहस्यवाद

कबीर ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किस प्रकार से किया, पर

१. कबीर-ग्रंथावली, पद ७४।

२. वही, पद ३१०।

३. वही, पद ११९।

परिशिष्ट

साखी

१—गुरु-महिमा

गुरु गोविंद तौ एक है, दूजा यहु आकार।
आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार॥

सतगुर की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार॥

बलिहारी गुर आपणौं, द्यौं हाड़ी कै बार।
जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी बार॥

ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या, सो जिनि बीसरि जाइ।
जब गोविंद कृपा करी, तब गुर मिलिया आइ॥

नां गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव।
दून्यूं बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव॥

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवैं पड़ंत।
कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उगरंत॥

सतगुर साँचा सूरिवाँ, तातैं लोहिं लुहार।
कसणी दे कंचन किया ताइ लिया तत सार॥

२—राम-स्मरण

कबिरा कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ।
राम कहे भला होइगा, नहि तर भला न होइ॥
भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा बाचा क्रमनां, कबिरा सुमिरण सार॥
मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि॥
जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस फुनि रसना नहीं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि भये बेकाम॥
लूटि सकै तौ लूटियो, राम नाम है लूटि।
पीछे ही पछिताहुगे, यहु तन जैहे छूटि॥

३—बिरह

चकवी बिछुरी रैणि की, आइ मिलि परभाति।
जे जन बिछुटे राम सूं, ते दिन मिले न राति॥
बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाहीं बिश्राम॥
यहु तन जालौं मसि करूं, ज्यूं धूवां जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै आग्गि॥
बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।
राम बियोगी ना जिवै, जिवै न बौरा होइ॥
अंषड़ियां झांईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियां छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि॥

जौ रोऊँ तौ बल घटै, हंसौं तौ राम रिसाइ।
मनही मांहि पिसूरराम ज्यूं घुंण काठहि खाइ॥
नैना अंतरि आचरूं निसि दिन निरषौं तोंहि।
कब हरि दरसन देहुगे सो दिन आवै मोंहि॥

४—ज्ञान

हिरदा भीतरि दौ बलै, धूंवां न प्रकट होइ।
जाकै लागी सौ लखै, कै जिहि लाई सोइ॥
अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि।
उतर दषिण के पंडिता, रहे बिचारि बिचारि॥
समंदर लागी आगि, नदियां जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूषां चढ़ि गई॥

५—परिचय

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्याही परवान॥
अंतरि कवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहाँ होइ।
मन भवरा तहां लुबधिया, जाणैंगा जन कोइ॥
पाणीं ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ॥
जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नांहि।
सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहि॥
मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहि।
मुकताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहि॥

६—रस

राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, मांगै सीस कलाल॥
सबै रसाइण मैं किया, हरि सा और न कोइ।
तिल इक घट मैं संचरै, तौ सब तन कंचन होइ॥

७—लांवि

कया कमंडल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर।
तन मन जोबन भरि पिया, प्यास न मिटी सरीर॥
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समानी समंद मैं, सो कत हेरी जाइ॥

८—जर्णा

दीठा है तौ कस कहूँ, कह्यां न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहौ, तूं हरिषि हरिषि गुण गाइ॥

११—निहकर्मी

नैनां अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झँपेउं।
नां हौं देखौं और कूं, नां तुझ देखन देउं॥
मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझकौं सौंपतां, क्या लागै है मेरा॥
कबीर सीप समंद की, रटै पियास पियास।
समद हि तिणका बरि गिणै, स्वाँति बूंद की आस॥
आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास।
पाणी मांहैं घर करै, ते भी मरैं पियास॥

१२—चितावणी

ढोल दमामा दुड़वड़ी, सहनाई संगि भेरि।
औसर चल्या बजाइ करि, है कोइ राखै फेरि॥

यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के व्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूलि॥

मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार।
तरवर थैं फल झड़ि पड़्या, बहुरि न लागै डार॥

कुल खोयाँ कुल ऊबरै, कुल राख्याँ कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटि लै, सब कुल रह्या समाइ॥

१३—मन

मैमंता मन मारि रे, घटहीं माँहैं घेरि।
जबहीं चालै पठि दे, अंकुस दे दे फेरि॥

करता था तौ क्यूं रह्या, अब करि क्यूं पछताइ।
बोवै पेड़ बंबूल का, अंब कहाँ तैं खाइ॥

१४—सूषिम मारग

उतीथैं कोइ न आवई, जाकूं बूझौं धाइ।
इतथैं सबै पठाइये, भार लदाइ लदाइ॥

सुर नर थाके मुनि जनाँ, जहाँ न कोई जाइ।
मोहि भाग कबीर के, तहाँ रहे घर छाइ॥

१६—माया

माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।
आसा त्रिष्णां ना मुई, यौं कहि गया कबीर॥

आसा जीवै जग मरै, लोग मरे मरि जाइ।
सोइ मूए धन संचते, सो उबरे जे खाइ॥
ढलती सायर घर किया, यौं लागी बहुतेणि।
जलही माहैं जलि मुई, पूरब जनम लिषेणि॥

१७—चांणक

जीव विलंब्या जीव सौं अलष न लषिया जाइ।
गोबिंद मिले न झल बुझै, रही बुझाइ बुझाइ॥
साषित सण का जे वड़ा, भींगां सूं कठठाइ।
दोइ अषिर गुर बाहिरा, बांध्या जमपुरि जाइ॥
कासी कांठैं घर करैं, पीवैं निर्मल नीर।
मुकति नहीं हरि नांव बिन, यौं कहै दास कबीर॥

१८ करणीं बिना कथणी

जैसी मुख तैं नीकसै, तैसी चालै चाल।
पारब्रह्म नेड़ा रहै, पल मैं करै निहाल॥

१९ कथणीं बिना करणीं

मैं जांन्यूं पढ़िबौ भलौ, पढ़िबा थैं भलौ जोग।
रांम नांम सूं प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग॥
कबीर पढ़िया दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ।
बांवन अषिर सोधि करि, ररै ममै चित लाइ॥
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
ऐकै अषिर पीव का, पढ़ै सुपंडित होइ।

—o—

२० साच

काइथ कागद काढिया, तव लेखै वार न पार।
जब लग साँस सरीर मैं, तब लग राम सँभार॥
सेष सवूरी वाहिरा, क्यः हज कावै जाइ।
जिनकी दिल स्यावति नहीं, तिनकौं कहाँ खुदाइ॥

२१ भ्रम विधंसंण

पाहण केरा पूतला, करि पूजैं करतार।
इही भरोसै जे रहे, ते बूड़े काली धार॥
कबीर दुनियाँ देहुरै, सीस नवाँवण जाइ।
हिरदा भीतरि हरि वसै, तू ताही सौं ल्यौ लाइ॥

२२ भेष

कबीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि।
मन न फिरावै आपणाँ, कहा फिरावै मोहि॥
केसौं कहा विगाड़िया, जे मूँड़ै सौ वार।
मन कौं काहे न मूँडिए, जामैं विषै बिकार॥

२३ कुसंगति

मूरिष संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ।
कदली सीप भुवँग मुषी, एक बूँद तिहुँ भाइ॥
ऊँचै कुल क्या जनमियाँ, जे करणी ऊँच न होइ।
सोवन कलस सुरा भर्‌या, साधू निंद्या सोइ॥

२४ संगति

देखा देखी भगति है, कदे न चढ़ई रंग।
विपति पड्या यूँ छाड़सी, ज्यूँ कंचुली भुवंग॥

काजल केरी कोठरी, तैसा यहु संसार।
बलिहारी ता दास की, पैसि रे निकसणहार॥

२५ साध

कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ।
चंदन होसी वासना, नींब न कहसी कोइ॥
कबीर संगति साध की, वेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूरि गँवाइसी, देसी सुमति बताइ॥
कबीर सोई दिन भला, जा दिन संत मिलाँहिं।
अंक भरे भरि भेंटिया, पाप सरीरौ जाँहि॥

२६ साध साषी भूत

निरवैरी निह-कामता, साईं सेती नेह।
बिषिया सूँ न्यारा रहै, संतनि का अँग एह॥
पावक रूपी राम है, घटि घटि रह्या समाइ।
चित चकमक लागै नहीं, ताथै धूँवाँ ह्वै जाइ॥

२७ साध महिमा

चंदन की कुटकी भली, नाँ बँबूर की अबराँउँ।
बैश्नों की छपरी भली, नाँ सापत का बड़ गाँउँ॥
कबीर भया है केतकी, भँवर भये सब दास।
जहाँ जहाँ भगति कबीर की, तहाँ तहाँ राम निवास॥

२८ मधि

कबीर दुविधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि।
यहु सीतल वहु तपति है, दोऊ कहिये आगि॥

२९ हेत प्रीति

कमोदनी जलहरि बसै, चंदा बसै अकासि।

जो जाहीं का भावता, सो ताही कै पास ॥

३० सूरा तन

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाँहिं ।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर माँहिं ॥

३१ सजीवनि

जहाँ जुरा मरण व्यापे नहीं, मुवा न सुणिये कोइ ।
चलि कबीर तिहि देसड़े, जहाँ वैद विधाता होइ ॥
तरवर तास बिलंबिए, बारह मास फलंत ।
सीतल छाया गहर फल, पंषी केलि करंत ॥

३२ कस्तूरी मृग

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूँढै बन माँहिं ।
ऐसैं घटि घटि राम है, दुनियाँ देखै नाँहिं ॥
मैं जाँण्याँ हरि दूरि है, हरि रह्या सकल भरिपूरि ।
आप पिछांणौं बाहिरा, नेड़ा ही थै दूरि ॥

३३ निन्दा

दोख पराये देखि करि, चल्या हसंत हसंत ।
अपनैं च्यंति न आवई, जिनकी आदि न अंत ॥
निंदक नेड़ा राखिये, आँगणि कुटी बँधाइ ।
बिन साबण पाँणीं बिना, निरमल करै सुभाइ ॥

३४ विनती

करता केरे बहुत गुण, औगुण कोई नाँहिं ।
जो दिल खोजौं आपणीं, तौ सब औगुण मुझ माँहिं ॥

पदावली

राग गौड़ी

दुलहिनीं गावहु मंगलचार

हम घरि आये हो राजा राम भरतार ॥ टेक ॥
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंच तत्त बराती।
रामदेव मोरै पाहुनें आये, मैं जोवन मैंमाती ॥
सरीर सरोवर वेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव सँगि भाँवरि लैहूँ, धनि-धनि भाग हमार ॥
सुर तेतीसूँ कौतिग आये, मुनियर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हम व्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी ॥ १ ॥

मन के मोहन बीठुला, यहु मन लागौ तोहि रे।
चरण कँवल मन मानियाँ, और न भावै मोहि रे॥ टेक॥
षट दल कँवल निवासिया, चहु कौं फेरि मिलाइ रे।
दुहूँ के बीच समाधियाँ, तहाँ काल न पासै आइ रे॥
अष्ट कँवल दल भीतरा, तहाँ श्रीरंग केलि कराइ रे।
सतगुर मिलै तौ पाइये, नहीं तो जन्म अक्यारथ जाइ रे॥
कदली कुसुम दल भीतरा, तहाँ दस अंगुल का बीच रे।
तहाँ दुवादस खोजि ले, जनम होत नहिं मीच रे॥
बंक नाल के अन्तरै, पछिम दिसा की बाट रे।
नीझर झरै रस पीजिये, तहाँ भँवर गुफा के घाट रे॥
त्रिवेणी मनह न्हवाइए, सुरति मिलै जौ हाथि रे।
तहाँ न फिरि मघ जोइये, सनकादिक मिलिहैं साथि रे॥

गगन गरजि मन जोइये, तहाँ दीसै तार अनन्त रे।
बिजुरी चमकि घन बरषिहैं, तहाँ भीजत हैं सब सन्त रे॥
षोडस कँवल जब चेतिया, तब मिलि गये श्री वनवारि रे।
जुरामरण भ्रम भाजिया, पुनरपि जनम निवारि रे॥
गुर गमि तैं पाईये, झंपि मरे जिनि कोइ रे।
तहीं कबीरा रमि रह्या, सहज समाधी सोइ रे॥ २॥

नरहरि सहजै हीं जिन जाना।

गत फल फूल तत्त तर पल्लव अंकुर बीज नसाना॥ टेक॥
प्रगट प्रकास ग्यान गुर गमि थैं, ब्रह्म अगिनि प्रजारी।
ससि-हर सूर, दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी॥
उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर-डंड सरपूरा।
गगन गरजि मन सुन्नि समाना बाजे अनहद तूरा॥
सुमति सरीर कबीर बिचारी त्रिकुटी संगम स्वामी।
पद आनंद काल थैं छूटै, सुख मैं सुरति समानी॥ ३॥

मन रे मन ही उलटि समाना।

गुर प्रसादि अकलि भई तोकौं, नहीं तर था बेगाना॥टेक॥
नेड़ै थैं दूरि, दूर थैं नियरा, जिनि जैसा करि जाना।
औलौती का चढ्या बलींडै, जिनि पीया तिनि माना॥
उलटे पवन चक्र षट बेधा, सुन्नि सुरति लै लागी।
अमर न मरै, मरै नहीं, जीवै, ताहि खोजि बैरागी॥
अनभै कथा कवन सौं कहिये, है कोई चतुर बिबेकी।
कहै कबीर गुर दिया पलीता, सो झल बिरलै देखी॥ ४॥

अवधू ग्यान लहरि धुनि माँडी रे।

सबद अतीत अनाहद राता, इहि बिधि त्रिष्णा षाँडी॥ टेक॥
बन कै ससै समँद घर कीया, मच्छा बसै पहाड़ी।
सुइ पीवै बाम्हण मतवाला, फल लागा बिन बाड़ी॥

पाड बुणै कोली में बैठी, मैं खूँटा मैं गाड़ी।
ताणैं वाणैं पड़ी अनवासी, सूत कहै बुणि गाढी॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, अगम ग्यान पद माँहीं।
गुर प्रसाद सूई कै नाकै, हस्ती आवैं जाँहीं॥५॥

एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई॥ टेक।
पहलैं पूत पीछैं भई माइ, चेला कै गुर लागै पाइ॥
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई।
बैलहि डारि गूँनि घरि आई, कुत्ता कूँ लै गई बिलाई॥
तलि करि साषा, ऊपरि करि मूल, बहुत भाँति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद कौं बूझै, ताकूँ तीन्यूँ त्रिभुवन सूझै॥६॥

अब मोहि ले चलि नणद के वीर, अपनैं देसा।
इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसंग आहि बिदेसा॥ टेक॥
गंग तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहाना।
सातौं बिरखा मेरे नीपजै, पंचू मोर किसना॥
कहै कबीर यहु अकथ कथा है, कहतां कही न जाई।
सहज भाइ जिहिं ऊपजै, ते रमि रहे समाई॥७॥

संतौ भाई आई ग्यान की आँधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उड़ाणी, माया रहै न बाँधी॥ टेक॥
हिति चत की द्वै थूनीं गिरानीं, मोह बलींडा तूटा।
त्रिस्ना छानि परी धर ऊपरि, कुबधि का भाँडा फूटा॥
जोग जुगति करि संतौं बाँधी, निरचू चुवै न पाणी।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जाणी॥
आँधी पीछैं जो जल ऊठा, प्रेम हरी जन भीना।
कहै कबीर भान के प्रगटे, उदित भया तम षीना॥८॥

हिंडोलना तहाँ झूले आतम राम।
प्रेम भगति हिंडोलनाँ, सब संतनि कौ बिश्राम॥ टेक॥

चंद सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि।
झूलैं पंच पियारियाँ, तहाँ झूलै जीय मोर॥
द्वादस गमि के अंतरा, तहाँ अमृत कौ ग्रास।
जिनि यहु अमृत चापिया, सो ठाकुर हम दास॥
सहज सुन्नि कौ नेहरौ, गगन-मंडल सिरिमौर।
दोऊ कुल हम आगरी, जौ हम झूलैं हिंडोल॥
अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कवल कौ घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट॥
नाद व्यंद की नावरी, राम नाम कनिहार।
कहै कबीर गुण गाइ ले, गुर गमि उतरौ पार॥ ९॥

को बीनै प्रेम लागौ री, माई को बीनै।
राम रसाइण माते री, माई को बीनै ॥ टेक॥
पाई पाई तू पुतिहाई,
पाई की तुरियाँ बेचि खाई री, माई को बीनै॥
ऐसैं पाई पर विथुराई,
त्यूँ रस आनि बनायौ री, माई को बीनै॥
नाचै ताना नाचै बाना
नाचै कूँच पुराना री, माई को बीनै॥
करगहि बैठ कबीरा नाचै,
चूहै काट्या ताना री, माई को बीनै॥१०॥

मैं बुनि करि सिराना हो राम, नालि करम नहीं ऊबरे॥टेक॥
दखिन कूँट जब सुनहा भूँका, तब हम सुगन बिचारा।
लरके परके सब जागत हैं, हम घरि चोर पसारा हो राम॥
ताना लीन्हा बाना लीन्हा, लीन्हें गोड के पउवा।
इत उत चितवत कठवन लीन्हा, मांड चलवना डऊवा हो राम॥
एक पग दोइ पग त्रेपग, संधै संधि मिलाई।

करि परपंचमोट बँधि आयो, किलि किलि सबै मिटाई हो राम ॥
ताना तनि करि बाना बुनि करि, छाक परी मोहि ध्यान ।
कहै कबीर मैं बुनि सिराना, जानत है भगवाना हो राम ॥११॥

तनना बुनना त्यजा कबीर, राम नाम लिख लिया सरीर ॥ टेक ॥
जब लग भरौं नली का बेह, तब लग टूटै राम सनेह ॥
ठाढी रोवै कबीर की माइ, ए लरिका क्यूँ जीवै खुदाइ ।
कहै कबीर सुनहु री माई, पूरणहारा त्रिभुवन राई ॥१२॥

जुगिया न्याइ मरै मरि जाइ ।
घर जाजरौ बलीडौ टेढ़ौ, औलोती दरराइ ॥ टेक ॥
मगरी तजौं प्रीति पापें सूँ, डाँडी देहु लगाइ ।
छींकौ छोड़ि उपरहि डौ बाँधौं, ज्यूँ जुगि-जुगि रहौ समाइ ॥
बैसि परहडी द्वार मुँदावौं, ल्यावौं पूत घर घेरी ।
जेठी धीय सासरै पठवौं, ज्यूँ बहुरि न आवे फेरी ॥
लहुरी धीय सबै कुल खोयौ, तब ढिग बैठन पाई ।
कहै कबीर भाग बपरी कौ, किल किलि सबै चुकाई ॥१

मन रे जागत रहियो भाई ।
गाफिल होइ बसत मति खोवै, चोर मुसे घर जाई ॥ टेक ॥
षट चक्र की कनक कोठड़ी, वस्त भाव है सोई ।
ताला कूँची कुलफ के लागे, उघड़त बार न होई ॥
पंच पहरवा सोइ गये हैं, बसतैं जागण लागी ।
जुरा मरण व्यापै कुछ नाहीं, गगन मंडल लै लागी ॥
करत विचार मनहीं मन उपजी, ना कहीं गया न आया ।
कहै कबीर संस सब छूटा, राम रतन धन पाया ॥१४॥

अपने विचारि असवारी कीजै,
सहमें के पाइडै पाव जब दीजै ॥ टेक ॥
दे मुहरा लगाम पहिराऊँ, सिकली जीन गगन दौराऊँ ॥

चलि बैकुंठ तोहि लै तारौं, थकहि त प्रेम ताजनै मारू ।
जन कबीर ऐसा असवारा, वेद कतेब दुहूँ थैं न्यारा ॥१५॥

अपनै मैं रँगि आपनपौ जानूँ ।
जिहि रँगि जानि ताही कूँ मानूँ ॥ टेक ॥
अभि-अन्तरि मन रंग समाना, लोग कहैं कबीर बौराना ॥
रंग न चीन्हैं मूरखि लोई, जिहि रँगि रंग रह्या सब कोई ॥
जे रँग कबहूँ न आवै न जाई, कहै कबीर तिहिं रह्या समाई ॥१६॥

झगरा एक नबेरौ राम, जे तुम्ह अपनैं जन सूँ काम ॥ टेक ॥
ब्रह्मा बड़ा कि जिनि रूप उपाया, वेद बड़ा कि जहाँ थैं आया ॥
यहु मन बड़ा कि जहाँ मन मानै, राम बड़ा कि रामहि जानै ॥
कहै कबीर हूँ खरा उदास, तीरथ बड़े कि हरि के दास ॥१७॥

मैं डोरै डोरै जाऊँगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊँगा ॥टेक॥
सूत बहुत कछु थोरा, ताथैं लाइ लै कंथा डोरा ।
कंथा डोरा लागा, तब जुरा मरण भौ भागा ॥
जहाँ सूत कपास न पूनीं, तहाँ बसे इक मूनी ।
उस मूनीं सूँ चित लाऊँगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊँगा ॥
मेर डंड इक छाजा, तहाँ बसै इक राजा ।
तिस राजा सूँ चित लाऊँगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊँगा ॥
जहाँ बहु हीरा घन मोती, तहाँ तत लाइ लै जोती ।
तिस जोतिहिं जोति मिलाऊँगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊँगा ॥
जहाँ उगैं सूर न चन्दा, तहाँ देष्या एक अनंदा ।
उस आनँद सूँ चित लाऊँगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊँगा ॥
मूल बंध इक पावा, तहाँ सिध गणेस्वर रावा ।
तिस मूलहि मूल मिलाऊँगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊँगा ॥
कबिरा तालिब तोरा, तहाँ गोपत हरी गुर मोरा ।
तहाँ हेत हरी चित लाऊँगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊँगा ॥१८॥

भाई रे विरले दोसत कबीर के, यहु तत बारम्बार कासों कहिये।
भणिन घड़ण सँवारण संम्रथ ज्यूँ राषै त्यूँ रहिये ॥ टेक ॥
आलम दुनी सबै फिरि खोजी; हरि बिन सकल अयाना।
छह दरसन, छयानबै पाषंड, आकुल किनहुँ न जाना ॥
जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौराना।
कागद लिखि लिखि जगत भुलाना, मन ही मन न समाना ॥
कहै कबीर जोगी अरु जंगम, ए सब झूठी आसा।
गुर प्रसादि रटौ चात्रिग ज्यूँ, निहचै भगति निवासा ॥१६॥

किलेक सिव संकर गये ऊठि,

राम समाधि अजहूँ नहिं छूटि ॥ टेक ॥

प्रलै काल कहूँ कितेक भाष, गये इंद्र से अगणित लाष।
ब्रह्मा खोजि पर्यौ गहि नाल, कहै कबीर वै राम निराल ॥२०॥

अच्यंत च्यंत ए माधो, सो सब मौहि समाना।
ताहि छाड़ि जे आन भजत हैं, ते सब भ्रंमि भुलाना ॥टेक॥
ईस कहै मैं ध्यान न जानूँ, दुरलभ निज पद मोहीं।
रंचक करुणा कारणि केसौ, नाँव धरण कौ तोहीं ॥
कहौ धौं सबद कहाँ थैं आवै; अरु फिरि कहाँ समाई।
सबद अतीत का मरम न जानैं, भ्रमि भूली दुनियाई ॥
प्यंड मुकति कहा ले कीजै, जौ पद मुकति न होई।
पिंड मुकति कहत हैं मुनि जन, सबद अतीत था सोई ॥
प्रगट गुपत, गुपत पुनि प्रगट, सो कत रहै लुकाई।
कबीर परमानंद मनाये, अकथ कथ्यौ नहिं जाई ॥२१॥

हम न मरैं मरिहै संसारा, हमकूँ मिला जियावन हारा ॥टेक॥
अब न मरौं मरनै मन माना, तेई मूए जिनि राम न जाना।
साकत मरै संत जन जीवै, भरि भरि राम रसाइन पीवै ॥

हरि मरिहैं तौ हमहूँ मरिहैं, हरि न मरै हम काहे कूँ मरिहैं।
कहै कवीर मन मनहि मिलावा, अमर भये सुखसागर पावा ॥२२॥

निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई।
अविगति की गति लखी न जाई ॥ टेक ॥
चारि वेद जाके सुमृत पुराना, नौ व्याकरना मरम न जाना ॥
सेस नाग जाके गरड़ समाना, चरन कवल कवला नहीं जाना ॥
कहै कवीर जाके भेदै नाहीं, निज जन वैठे हरि की छाँहीं ॥२३॥

मैं सवनि मैं औरनि मैं हूँ सव,
मेरी विलगि विलगि विलगाई हो।
कोई कहौ कवीर कोई कहौ राम राई हो ॥ टेक ॥
ना हम वार वूढ नाहीं हम, ना हमरै चिलकाई हो।
पठए न जाऊँ अरवा नहीं आऊँ, सहजि रहूँ हरिआई हो ॥
वोढन हमरे एक पछेवरा लोक वोलैं इकताई हो।
जुलहै तनि वुनि पार न पावल, फारि वुनी दस ठाँईं हो ॥
त्रिगुण-रहित फल रमि हम राखल, तव हमरौ नाउँ राम राई हो।
जग मैं देखौं जग न देखै मोहि, इहि कवीर कछु पाई हो ॥२४॥

प्यारे राम मनहीं मना।
कासूँ कहूँ कहन कौं नाहीं, दूसर और जना ॥ टेक ॥
ज्यूँ दरपन प्रतिव्यंव देखिए, आप दवासूँ सोई।
संसौ मिटयौ एक कौ एकै, महा प्रलै जव होई ॥
जौ रिझऊँ तौ महा कठिन है, विन रिझये थैं सव खोटी।
कहै कवीर तरक दोइ साधै, ताकी मति है मोटी ॥२५॥

मुला करि ल्यौ न्याव खुदाई;
इहि विधि जीव का भरम न जाई ॥ टेक ॥
सरजी आनैं देह चिनासै, माटी विसमल कीता।

जोति सरूपी हाथि न आया, कहौ हलाल क्या कीता ॥
बेद कतेब कहौ क्यूँ झूठा, झूठा जो न बिचारै।
सब घटि एक एक करि जानैं, भीं दूजा करि मारै ॥
कुकरी मारै बकरी मारै, हक हक करि बोलै।
सबै जीव साईं के प्यारे, उबरहुगे किस बोलै ॥
दिल नहीं पाक, पाक नहीं चीन्हों, उसदा षोज न जाना।
कहै कबीर भिसति छिटकाई, दोजग ही मन माना ॥२६॥

कोई पीवै रे रस राम नाम का, जौ पीवै सो जोगी रे।
संतौ सेवा करौ राम की, और न दूजा भोगी रे ॥ टेक ॥
यहु रस तौ सब फीका भया, ब्रह्म अगिन परजारी रे।
ईश्वर गौरी पीवन लागे, राम तनीं मतिवारी रे ॥
चंद सूर दोउ भाठी कीन्हीं, सुषमनि चिगवा लागी रे।
अमृत कूँ पी साँचा पुरया, मेरी त्रिष्णा भागी रे ॥
यहु रस पीवै गूँगा गहिला, ताकी कोई न बूझै सार रे।
कहै कबीर महा रस महँगा, कोई पीवैगा पीवणहार रे ॥२७॥

अवधू मेरा मन मतवारा।
उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा ॥टेक॥
गुड़ करि ग्यान, ध्यान कर महुवा, भव भाठी करि भारा।
सुषमन नारी सहजि समानी, पीवै पीवनहारा ॥
दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी, चुया महा रस भारी।
काम क्रोध दोइ किया बलीता, छूटि गई संसारी ॥
सुन्नि मँडल मैं मँदला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै।
गुर प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमना काछै ॥
पूरा मिल्या तबैं सुष उपज्यौ, तन की तपनि बुझानी।
कहै कबीर भवबंधन छूटै, जोतिहि जोति समानी ॥२८॥

बोलौ भाई राम की दुहाई।
इहि रसि सिव सनकादिक माते, पीवत अजहूँ न अघाई ॥टेक॥
इला प्यंगुला भाठी कीन्ही, ब्रह्म अगिन परजारी।
ससिहर सूर द्वार दस मूँदे, लागी जोग जुग तारी॥
मन मतिवाला पीवै राम रस दूजा कछू न सुहाई।
उलटी गंग नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई॥
पंच जने सो सँग करि लीन्हें, चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियाले पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी।
सहज सुन्नि मैं जिनि रस चाष्या, सतगुर थैं सुधि पाई।
दास कबीर इहि रसि माता, कबहूँ उछकि न जाई ॥२६॥

राम चरन मनि भाए रे।
अस ढरि जाहु रॉंड के करहा, प्रेम प्रीति ल्यौ लाये रे ॥टेक॥
आँव चढ़ी अँबली रे अँबली, बबूर चढ़ी नग बेली रे।
द्वै थर चढ़ि गयौ रॉंड कौ करहा, मनह पाट की सैली रे॥
कंकर कूई पतालि पनियाँ, सूनैं बूँद बिकाई रे।
बजर परौ इहि मथुरा नगरी, कान्ह पियासा जाई रे॥
एक दहिड़िया दह्यो जमायौ, दुसरी पारे गई सारी रे।
न्यूति जिमाऊँ अपनौं करहा, छार मुनिस की डारी रे॥
इहि बनि बाजै मदन भेरि रे, उहि बनि बाजै तूरा रे।
इहि बनि खेलै राही रुकमनि, उहि बनि कान्ह अहीरा रे॥
आसि पासि तुरसी कौ बिरवा, माहिं द्वारिका गाँऊँ रे।
तहाँ मेरौ ठाकुर राम राइ है, भगत कबीरा नाऊँ रे ॥३०॥

थिर न रहै चित थिर न रहै, च्यंतामणि तुम्ह कारणि हो।
मन मैले मैं फिरि फिरि आहौं,
तुम सुनहु न दुख बिसरावन हो॥ टेक॥
प्रेम खटोलवा कसि कसि बाँध्यौ, बिरह बान तिहि लागू हो।

तिहि चढ़ि इंदऊँ करत गवँसिया, अंतरि जमवा जागू हो ॥
महरू मछा मारि न जानै, गहरे पैठा धाई हो।
दिन इक मगरमछ लै खैहै, तव को रखिहै बंधन भाई हो ॥
महरू नाम हरइये जानैं, सवद न वूझै बौरा हो।
चारे लाइ सकल जग खायौ; तऊ न भेटि निसहुरा हो।
जौ महाराज चाहौ महरइये, तौ नाथौ ए मन बौरा हो।
तारी लाइकैं सिष्टि विचारौ, तव गहि भेटि निसहुरा हो ॥
टिकुटी भई कान्ह के कारणि, भ्रमि भ्रमि तीरथ कीन्हाँ हो।
सो पद देहु मोहि मदन मनोहर, जिहि पदि हरि मैं चीन्हाँ हो ॥
दास कवीर कीन्ह अस गहरा, वूझै कोई महरा हो।
यह संसार जात मैं देखौं, ठाढा रहौ कि निहुरा हो ॥२१॥

कैसैं नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिष विचपन नारी ॥ टेक ॥
वैल वियाइ गाइ भई वाँझ,वछरा दूहै तीन्यूँ साँझ ॥
मकड़ी घरि मापी छछि हारी, मास पसारि चील्ह रखवारी ॥
मूसा खेवट, नाव विलइया, मींडक सोवै साप पहरइया ॥
नित उठि स्याल स्यंघ सूँ झूझै, कहै कवीर कोई विरला वूझै ॥२२॥

भाई रे चून विलूटा खाई।
वाघनि संगि भई सवहिन कै, खसम न भेद लहाई ॥ टेक ॥
सव घर फोरि विलूटा खायौ, कोई न जानै भेव।
खसम निपूतौ आँगणि सूतौ, राँड न देई लेव ॥
पाड़ोसनि पनि भई विरानी, माँहि हुई घर घालै।
पंच सखी मिलि मंगल गावैं, यहु दुख याकौं सालै ॥
द्वै द्वै दीपक घरि घरि जोया, मन्दिर सदा अँधारा।
घर घेहर सव आप सवारथ; वाहरि किया पसारा ॥
होत उजाड़ सवै, कोई जानैं, सव काहू मनि भावै।
कहै कवीर मिलै जे सतगुर, तौ यहु चून छुड़ावै ॥२३॥

सुवटा डरपत रहु मेरे भाई, तोहि डराई देत विलाई ॥
तीनि वार रूँधै इक दिन मैं, कबहूँ क खता खवाई ॥ टेक ॥
या मंजारी मुगध, न मानैं, सब दुनिया डहकाई ।
राणा-राव-रंक कौं व्यापै, करि-करि प्रीति सवाई ।
कहत कबीर सुनहु रे सुवटा, उबरै हरि सरनाई ।
लाषौं माँहि तैं लेत अचानक, काहू न देत दिखाई ॥३४॥

मन रे कागद कीर परायौ ।
कहा भयौ व्यौपार तुम्हारै, कल तर बढ़ै सवायौ ॥ टेक ॥
बड़ै बौहरै सौंठो दीन्हौं, कल तर काढ्यौ खोटै ।
चार लाख अरु असी ठीक दे, जनम लिष्यौ सब चोटै ॥
अबकी बेर न कागद कीर्यौ, तौ धर्म राई सूँ तूटै ।
पूँजी वितड़ि बंदि लै देदे, तब कहै कौन कै छूटै ॥
गुरदेव ग्यानीं भयौ लगनियाँ; सुमिरन दीन्हौं हीरा ।
बड़ी निसरनी नाँव राम कौ; चढ़ि गयौ कीर कबीरा ॥३५॥

गोव्यंदे तुम्ह थैं डरपौं भारी ।
सरणाईं आयौ क्यूँ गहिये; यहु कौन बात तुम्हारी ॥ टेक ॥
धूप दाझतै छाँह तकाई ; मति तरवर सचपाऊँ ।
तरवर माँहैं ज्वाला निकसै; तौ क्या लेइ बुझाऊँ ॥
जे बन जलै त जल कूँ धावै, मति जल सीतल होई ।
जलही माँहि अगनिं जे निकसै, और न दूजा कोई ॥
तारण तिरण तिरण तू तारण, और न दूजा जानौं ।
कहै कबीर सरनाई आयौं, आन देव नहीं मानौं ॥ ३६ ॥

दूभर पनियाँ भर्यो न जाई,
अधिक त्रिपा हरि बिन न बुझाई ॥ टेक ॥
ऊपरि नीर लेज तलि हारी,
कैसैं नीर भरै पनिहारी ।

ऊधर्यौ कूप घाट भयौ भारी,
चली निरास पंच पनिहारी ॥
गुर उपदेस भरी ले नीरा,
हरषि हरषि जल पीवै कबीरा ॥३७॥

ऐसे लोगनि सूँ का कहिये ।
जे नर गये भगति थैं न्यारे, तिनथैं सदा डराते रहिये ॥टेक॥
आपण देही चरवा पानी, ताहि निन्दैं जिनि गंगा आनी ॥
आपण बूड़ैं और कौं बोड़ैं, अगनि लगाइ मँदिर मैं सोवैं ॥
आपण अंध और कूँ काँना, तिनकौं देखि कबीर डराना ॥३८॥

बहुरि हम काहे कूँ आवहिंगे ।
बिछुरे पंच तत्त की रचना, तब हम रामहिं पावहिंगे ॥ टेक॥
पृथी का गुण पाणीं सोख्या, पानी तेज मिलावहिंगे ।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि, सहज समाधि लगावहिंगे ॥
जैसे बहु कंचन के भूपन, येकहि गालि तवावहिंगे ।
ऐसे हम लोक वेद के बिछुरे सुन्निहि माहिं समावहिंगे ॥
जैसे जलहि तरंग तरंगनीं, ऐसे हम दिखलावहिंगे ।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर, हंसहिं हंस मिलावहिंगे ॥३९॥

अवधू कामधेन गहि बाँधी रे ।
भाँडा भंजन करै सबहिन का, कछू न सूझै आँधी रे ॥ टेक ॥
जौ ब्यावै तौ दूध न देई, ग्याभण अमृत सरवै ।
कौली घाल्यौं बीडरि चालै, ज्यूँ घेरौं त्यूँ दरवै ॥
तिहिं धेन थैं इछ्या पूगी, पाकड़ि खूँटै बाँधी रे ।
ग्वाड़ा माँहैं आनँद अपनौं, खूँटै दोऊ बाँधी रे ॥
सोई माइ सास पुनि सोई, सोई याकी नारी ।
कहै कबीर परम पद पाया, संतौ लेहु विचारी ॥४०॥

राग रामकली

अकथ कहाणी प्रेम की कछू कही न जाई ।
गूँगे केरी सरकरा, वैठे मुसकाई ॥ टेक ॥
भोमि विना अरु वीज विन, तरवर एक भाई ।
अनंत-फल प्रकासिया, गुर दीया वताई ॥
मन थिर, वैसि विचारिया, रामहि ल्यौ लाई ।
झूठी अनभै विस्तरी, सच थोथी वाई ॥
कहै कवीर सकति कुछ नाहीं, गुर भया सहाई ।
आवण जाणी मिटि गई, मन मनहि समाई ॥४१॥
है कोई जगत गुर ग्यानी, उलटि वेद वूझै ।
पाणी में अगिन जरै, अंधरे कौं सूझै ॥ टेक ॥
एकनि दादुर खयो पंच भवंगा, गाइ नाहर खायो काटि-
काटि अंगा ॥
वकरी विघार खायौ, हरनि खायौ चीता ।
काग लंगर फंदियौ, वटेरै वाज जीता ॥
मूसै मँजार खायौ, स्यालि खायौ स्वाना ।
आदि कौ आदेस करत, कहै कवीर ग्याना ॥४२॥
अवधू सो जोगी गुर मेरा, जो या पद का करै नवेरा ॥ टेक ॥
तरवर एक पेड़ विन ठाढ़ा, विन फूलों फल लागा ।
साखा पत्र कछू नहीं वाकै, अष्ट गगन मुख वागा ॥
पैर विन निरति करौं विन वाजै, जिभ्या हीणा गावै ।
गावणहारे कै रूप न रेषा, सतगुर होइ लखावै ॥
पंषी का षोज मीन का मारग, कहै कवीर विचारी ।

अपरंपार पार परसोतम, वा मूरति की बलिहारी ॥४३॥

अब मैं जाणी वौरे केवल राइ की कहाणी।
मंझा जोति राम प्रकासै, गुर गमि बाणी ॥ टेक॥
तरवर एक अनंत मूरति, सुरता लेहु पिछाणी।
साखा पेड़, फूल फल नाहीं, ताकी अमृत बाणी॥
पुहुप बास भवरा एक राता, बारा ले उर धरिया।
सोलह मंझै पवन झकोरै, आकासे फल फलिया॥
सहज समाधि बिरप यहु सींच्या, धरती जलहर सोष्या।
कहै कबीर तास मैं चेला जिनि यहु तरवर पेष्या ॥४४॥

राजा राम कवन रंगैं, जैसैं परिमल पुंहुप संगैं ॥टेक॥
पंचतत ले कीन्ह बँधान, चौरसी लप जीव समान॥
बेगर-बेगर राखि ले भाव, तामैं कीन्ह आपकौ ठाँव॥
जैसै पावक भंजन का बसेप, घट उनमॉन कीया प्रवेस॥
कह्या चाहूँ कछू कह्या न जाइ, जल-जीव ह्वै जल नहीं विगराइ॥
सकल आतमाँ बरतै जे, छल बल कौं सब चीन्हि बसे॥
चीनियत चीनिंयत ता चीन्हिलै से, तिहि चीन्हिअत धूँका करके॥
आपा-पर सब एक सामान, तब हम पाया पद निरवाण॥
कहै कबीर मन्य भया संतोष, मिले भगवंत गया दुख दोष ॥४५॥

अंतरगति अनि अनि बाणी।
गगन गुपत मधुकर मधु पीवत, सुगति सेस सिव जाणी॥ टेक॥
त्रिगुण त्रिबिधि तलपत तिमरातन, तंती तंत मिलानी।
भागे भरम भोइन भये भारी, बिधि बिरंचि सुषि जाणी॥
बरन पवन अबरन बिधि पावक, अनल अमर मरै पाणी।
रबि ससि सुभग रहे भरि सब घटि, सबद सुन्नि थिति माहीं॥
संकट सकति सकल सुख खोये, उदिध मथित सब हारे।
कहै कबीर अगम पुर पटण, प्रगटि पुरातन जारे ॥४६।

जलै नीर तिण षड़ सब उबरै, वैसंदर ले सींचै।
ऊपरि मूल फूल तिन भीतरि, जिनि जान्या तिनि नीकै॥
कहै कबीर जान ही जानै अन-जानत दुख भारी।
हारी बाट बटाऊ जीत्या, जानत की बलिहारी॥४६॥

संतौ धोखा कासूँ कहिये।

गुण मैं निरगुण, निरगुण मैं गुण है
बाट छाड़ि क्यूँ बहिये॥ टेक॥

अजरा अमर कथै सब कोई अलख न कथणाँ जाई।
नाति सरूप, वरण नहीं जाके, घटि-घटि रह्यौ समाई॥
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अंत न होई।
प्यंड-ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिये कहै कबीर हरि सोई॥५०॥

तू माया रघुनाथ की खेलण चढ़ी अहेड़ै।
चतुर चिकारे चुणि-चुणि मारे, कोई न छोड्या नेड़ै॥टेक॥

मुनियर पीर दिगंबर मारे, जतन करंता जोगी।
जंगल महि के जंगम मारे, तू रे फिरै बलिवंती॥
वेद पढंता बाँम्हण मारा, सेवा करता स्वामी॥
अरथ करंता मिसर पछाड्या तू रे फिरै मैमंती॥
साषित कै तू हरता करता, हरि भगतन कै चेरी।
दास कबीर राम कै सरनै, ज्यूँ लागी त्यूँ तोरी॥५१॥

जग सूँ प्रीति न कीजिये, समझि मन मेरा।
स्वाद हेत लपटाइये, को निकसै सूरा॥ टेक॥

एक कनक अरु कामिनी, जग मैं दोइ फंदा।
इनपै जौ न बँधावई, ताका मैं बंदा॥
देह धरें इन माँहि वास, कहु कैसैं छूटै।
सीव भये ते ऊबरे, जीवत ते लूटे॥
एक एक सूँ मिलि रह्या, तिनही सचु पाया।

प्रेम मगन, लैलीन मन, खो बहुरि न आया ॥
कहै कबीर निहचल भया, निरभै पद पाया।
संसा ता दिन का गया, सतगुर समझाया ॥५२॥

माधौ चले बुनावन माहा, जग जीतें जाइ जुलाहा ॥टेक॥
नव गज दस गज गज उगनीसा, पुरिया एक तनाई।
सात सूत दे गंड बहतरि पाट लगी अधिकाई ॥
तुलह न तोली, गजह न मापी, पहजन सेर अढाई।
अढ़ाई मैं जे पाव घटै तौ, करकस करै बजहाई ॥
दिन की बेठि खसम सूँ कीजै, अरज लगी तहाँई।
भागी पुरिया घर ही छाड़ी, चले जुलाह रिसाई ॥
छोछी नली काम नहिं आवै, लपटि रही उरझाई।
छाँड़ि पसारा राम कहि बौरे, कहै कबीर समझाई ॥८३॥

राग आसावरी

ऐसी रे अवधू की वाणी,
ऊपरि कूवटा तलि भरि पाणी॥ टेक॥
जब लग गगन जोति नहीं पलटै,
अविनासी सूँ चित नहीं चिहुटै।
जब लग भवर गुफा नहीं जानै,
तौ मेरा मन कैसैं मानै ॥
जब लग त्रिकुटी संधिन न जानै,
ससिहर कै घरि सूर न आनै।
जब लग नाभि कवल नहीं सोधै,
तौ हीरै हीरा कैसे बेधै ॥
सोलह कला संपूरण छाजा,
अनहद कै घरि बाजैं बाजा।
सुषमन कै घरि भया अनंदा,

उलटि कवल भेटे गोव्यंदा ॥
मन पवन जव परचा भया,
ज्यूँ नालेरौं पीर समइया ।
कहै कवीर घटि लेहु विचारी,
औघट घाट सींचि ले क्यारी ॥५४॥

वावा जोगी एक अकेला, जाकै तीर्थ व्रत न मेला ॥टेक॥
झोली पत्र विभूति न वटवा, अनहद वेन वजावै ।
माँगि न खाइ न भूखा सोवै, घर अँगना फिरि आवै ॥
पाँच जनाँ की जमाति चलावै, तास गुरू मैं चेला ।
कहै कवीर उहि देसि सिधाये, वहुरि न इहि जग मेला ॥५५॥

अवधू ऐसा ज्ञान विचारी, ज्यूँ वहुरि न ह्वै संसारी ॥टेक॥
च्यंत न सोज चित विन चितवै, विन मनसा मन होई ।
आजपा जपत सुन्नि अभिअंतरि, यहु तत जानैं सोई ॥
कहै कवीर स्वाद जव पाया, वंक नालि रस खाया ।
अमृत झरै ब्रह्म परकासै, तव ही मिलै राम राया ॥५६॥

गोव्यंदे तुम्हारै वन कंदलि, मेरो मन अहेरा खेलै ।
वपु वाड़ी अनंगु मृग, रचिहीं रचि मेलै ॥ टेक ॥
चित तरउवा पवन पेदा, सहज मूल वाँधा ।
ध्यान धनक, जोग-करम, ग्यान-वान साँधा ॥
षट-चक्र-कँवल वेधा, जारि उजारा कीन्हा ।
काम क्रोध लोभ मोह, हाकि स्यावज दीन्हा ॥
गगन मंडल रोकि वारा, तहाँ दिवस न राती ।
कहै कवीर छाँड़ि चले, विछुरे सव साथी ॥५७॥

अव न वसूँ इहि गाँइ गुसाँई,
तेरे नेवगी खरे सयाने हो राम ॥ टेक ॥
नगर एक तहाँ जीव धरम हता, वसैं जु पंच किसाना ।

नैनूँ निकट श्रवनूँ रसनूँ, इंद्री कह्या न मानै हो राम ॥
गाँइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै।
जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोकौं मारै हो राम॥
खोटौ महतौ विकट बलाही, सिरकस दमका पारै।
बुरौ दिवान दादि नहिं लागै, इक बाँधै इक मारै हो राम॥
धरमराइ जब लेखा माँग्या, बाकी निकसी भारी।
पाँच किसाना भाजि गये हैं, जीव धर बाँध्यौ पारी हो राम॥
कहै कबीर सुनहु रे संतो, हरि भजि बाँधौ भेरा।
अबकी बैर बकसि बंदे कौं, सरखत करौं नबेरा॥५८॥

अवधू ऐसा ग्यान विचारी,
तार्थैं भई पुरिप थैं नारी॥ टेक॥
ना हूँ परनीं नाहूँ क्वारी, पूत जन्यूँ द्यौ हारी।
काली मूँड कौ एक न छोड्यौ, अजहूँ अकन कुवारी॥
बाम्हन कै बम्हनेटी कहियौं, जोगी कै घरि चेली।
कलमाँ पढ़ि पढ़ि भई तुरकनीं, अजहूँ फिरौं अकेली॥
पीहरि जाऊँ न रहूँ सासुरै, पुरषहिं अंगि न लाऊँ।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, अंगहि अंग न छुवाऊँ॥५६॥

राम बिन जन्म मरन भयौ भारी।
साधिक सिध सूर अरु सुरपति, भ्रमत भ्रमत गये हारी॥ टेक॥
न्यंद भाव त्रिग तत जंत्रक, सकल सुख सुखकारी।
श्रवत सुनि रवि ससि, सिव सिव, पलक पुरिप पल नारी॥
अंतर गगन होत अंतर धुनि, बिन सासनि है सोई।
घोरत सबद समंगल, सब घटि, न्यंदत न्यंदै कोई॥
पाणी पवन अवनि नभ पावक, तिहि संगि सदा बसेरा।
कहै कबीर मन मन करि वेध्या, बहुरि न कीया फेरा॥६०॥

बाबा करहु कृपा जन मारगि लावो ज्यूँ भव-बंधन षूटै।
जुरा-मरन दुख, फेरि करन सुख, जीव जनम थैं छूटै ॥ टेक ॥
सतगुर चरन लागि यौं बिनऊँ, जीवनि कहाँ थैं पाई।
जा कारनि हम उपजैं बिनसैं, क्यूँ न कहौ समझाई ॥
आसा-प्रास पंड नहीं पाड़ै, यौं मन सुन्नि न लूटै।
आपा-पर आनंद न बूझै, बिन अनभै क्यूँ छूटै ॥
कह्या न उपजै, उपन्या नहीं जाणैं, भाव अभाव बिहूना।
उदै अस्त जहाँ मति बुधि नाहीं, सहजि राम ल्यौ लीना ॥
ज्यूँ बिंबहि प्रतिबिंब समानाँ, उदिक कुंभ बिगराना।
कहै कबीर जानि भ्रम भागा, जीवहि जीव सामना ॥६१॥

राग सोरठ

सरवर तटि हंसणी तिसाई;
जुगति बिना हरि जल पिया न जाई ॥ टेक ॥
पिया चाहै तौ लै खग सारी, उडि न सकै दोऊ पर भारी ॥
कुंभ लीयैं ठाढी पनिहारी, गुण बिन नीर भरै कैसैं नारी।
कहै कबीर गुर एक बुधि बताई, सहज सुभाइ मिले राम राई ॥६२॥

राग केदारा

भयौ रे मन, पाहुनड़ौ दिन चारि।
आजिक काल्हिक माँहि चलैगौ,
ले किन हाथ सँवारि ॥ टेक।
सौंज पराई जिनि अपणावै, ऐसी सुणि किन लेह
यहु संसार इसौ रे प्राणी, जैसो धूँवरि मेह।
तन धन जोबन अँजुरी कौ पानी, जात न लागै वार।
सैंबल के फूलन परि फूल्यौ, गरब्यौ कहा गँवार ॥

खोटी खाटै, खरा न लीया, कछू न जानी साटि ।
कहै कबीर कछू बनिज न कीयौ, आयौ थौ इहि हाटि ॥६३॥

एक को सबनि मिलावन मेला ।
बहुतक भाँति करै फुरमाइस, है असवार अकेला ॥ टेक ॥
जोरत कटक जु घेरत सब गढ, करतब मेली मेला ।
जोरि कटक गढ तोरि पातिसाह, खेलि चल्यौ एक खेला ॥
कूच मुकाम जोग के घर मैं, कछू एक दिवस खटाना ।
आसन राखि बिभूति साखि दे, फुनि ले मटी उडाना ॥
या जोगी की जुगुति जु जानैं, सो सतगुर का चेला ।
कहै कबीर उन गुर की कृपा थैं, तिनि सब भरम पछेला ॥६४॥

राग टोडो

तू पाक परमानंदे ।
पीर पैकंबर पनह तुम्हारी, मैं गरीब क्या गंदे ॥ टेक ॥
तुम्ह दरिया सबही दिल भीतर, परमानंद पियारे ।
नैक नजरि हम ऊपरि नाहीं, क्या कमिबखत हमारे ॥
हिकमति करै हलाल बिचारै, आप कहावैं मोटे ।
चाकरी चोर निवाले हाजिर, साईं सेती खोटे ॥
दाइम दूवा करद बजावै, मैं क्या करूँ भिखारी ।
कहै कबीर मैं बंदा तेरा, खालिक पनह तुम्हारी ॥६५॥

राग बिलावल

स्वादि पतंग जरै जरि जाइ ।
अनहद सौं मेरो चित न रहाइ ॥ टेक ॥
माया कै मदि चेति न देख्या, दुबिध्या माँहि एक नहिं पेख्या ।
भेष अनेक किया, बहु कीन्हा, अकल पुरिस एक नहीं चीन्हा ॥

केते एक मुये, मरहिंगे केते, केतेक मुगध अजहूँ नहीं चेते ॥
तंत मंत सब ओपद माया, केवल राम कबीर दिढाया ॥६६॥

राग वसंत

चलि चलि रे भँवरा कवल पास, भँवरी बोलै अति उदास ॥टेक॥
तैं अनेक पुहप कौ लियो भोग, सुख न भयौ तब बढ्यौ है रोग।
हौं ज कहत तोसूँ बार बार, मैं सब बन सोध्यौ डार डार ॥
दिनाँ चारि के सुरँग फूल, तिनहि देखि कहा रह्यौ है भूल।
या बनासपती मैं लागैगी आगि, तब तूँ जैहै कहाँ भागि ॥
पहुप पुराने भये सूक, तब भवरहि लागी अधिक भूख।
उड्यौ न जाइ, बल गयौ है छूटि, तब भँवरी रूनी सीस कूटि ॥
दह दिसि जोवै मधुपराइ, तब भँवरी ले चली सिर चढ़ाइ।
कहै कबीर मन कौ सुभाव, राम भगति बिन जम कौ डाव ॥६७॥

राग माळीगौड़ी

पंडिता मन रंजिता, भगति हेत ल्यौ लाइ रे।
प्रेम प्रीति गोपाल भजि नर, और कारण जाइ रे॥ टेक॥
दाम छै पणि काम नाहीं, ग्यान छै पणि धंध रे।
श्रवण छै पणि सुरति नाँहीं, नैन छै पणि अंध रे॥
जाके नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गंग तरंग रे।
कहै कबीर हरि भगति बाँछूँ, जगत गुर गोब्यंद रे ॥६८॥

—०—

टिप्पणी

कबीर के सिद्धान्तों को जाने बिना उनकी उक्तियों का अर्थ नहीं खुलता। इससे इस पुस्तक में संकलित साखियों और पदों के संबंध में आवश्यक टिप्पणियाँ लिखने के पहले कबीर-पंथ के मुख्य सिद्धान्तों का संक्षेप में परिचय दिया जाता है। इसका आधार आचार्य श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी का ग्रंथ 'कबीर' है। उसी से अभीष्ट उद्धरण लेने के लिए श्रीद्विवेदीजी का ऋण स्वीकार करना हमारा धर्म है।

हंस (हंसा) अर्थात् जीव पहले सत्य स्वरूप में था। उस समय देह सत्य स्वरूप थी। पिंड (देह) के साथ ही ब्रह्मांड (चौदहों भुवन, संपूर्ण विश्व) भी सत्य स्वरूप और पक्के थे। पाँच पक्के तत्व थे—धैर्य, दया, शील, विचार और सत्य। तीन गुण थे—विवेक-वैराग्य, गुरु-भक्ति और साधु-भाव। हंसा की देह पाँच तत्वों और तीन गुणों की थी। इस जीव का प्रकाश और स्वभाव अद्वितीय था। जब इस जीव (हंसा) ने अपनी सुन्दरता का विचार किया तब इसको बड़ा आनन्द हुआ और इसे अपनी देह की सुध भूल गयी। इस पर असली पक्की देह पलट कर कच्ची देह बन गयी। सब तत्व बदल गये। धैर्य से आकाश, शील से अग्नि, विचार से जल, दया से वायु और सत्य से पृथ्वी हो गयी। इस प्रकार पक्के गुण से कच्चे गुण हो गये। फिर पचीस प्रकृति आदि कच्चे आकार का प्रादुर्भाव हुआ।

जिस समय जीव अपनी देह की ज्योति, प्रभाव और प्रकाश को देख कर आनन्द में बेसुध हुआ उस समय उसने आँख उठाकर शून्य में देखा। वहाँ उसकी छाया देख पड़ी, जो स्त्री रूप हो गयी। इससे आगे चलकर उसका संयोग हुआ। इसी को माया और ब्रह्म का संयोग कहते हैं। इसी से समस्त संसार की रचना हुई।

फिर जीव को अहङ्कार उत्पन्न हुआ। तब यह मानने लगा कि सब मैं ही हूँ। फिर तो स्वाभाविक 'एकोऽहं बहु स्याम्'—एक से अनेक होने—का विचार उठा। इसी ब्रह्म सच्चिदानन्द की बात सब वेद, शास्त्र,

किताब आदि करते हैं, परन्तु ज्ञानी ही जानता है कि वह ब्रह्म सच्चिदा-नन्द स्वयं बन्धन में है और सर्वदा आवागमन में बँधा । जीव सूक्ष्म से स्थूल देह में आने के समय से भ्रम में पड़ गया । उसी भ्रम की अवस्था में उसने वेद, किताब, ग्रन्थ, वाणी आदि बनाया, जिसका कुछ वारापार नहीं ।

जीव एक से अनेक होते ही अज्ञानी हो जाता है । जब अद्वैत की ओर मुख फेरता है और आत्मज्ञान के हेतु प्रयत्न करता है तब इसमें पुनः ज्ञान का प्रकाश आ जाता है और संसार लय हो जाता है, क्योंकि जिसकी ओर ध्यान न होगा उसका अवश्य ही नाश हो जायगा । परन्तु अद्वैत की ओर बढ़ने के बाद भी जीव में वासना बनी रहती है । जब तक वासना का बीज नष्ट नहीं हो जाता तब तक मुक्ति नहीं । इसी से जीव निरन्तर सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म की ओर चढ़ता-उतरता चौरासी लाख योनियों के भव जाल में भटकता रहता है । जीव उपायों और युक्तियों से ज्ञानाग्नि को उठाता है । योगाग्नि प्रकट होकर कर्मों को जला देती है । जिस प्रकार लाल अङ्गार थोड़ी देर तक चमककर ठण्डा बनकर कोयला हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि भी ठण्डी हो जाती है, ब्रह्मपद को प्राप्त जीव फिर संसार-चक्र में आ फँसता है । वेद वेदाङ्ग केवल ब्रह्मत्व की प्राप्ति का उपाय बताते हैं, पर उन्हें बिल्कुल पता नहीं कि ब्रह्मत्व कितना ही बड़ा पद क्यों न हो जीव को स्थायी सुख नहीं दे सकता ।

पारख गुरु के सिवा इस भ्रम-जाल से छुड़ाने वाला दूसरा कोई नहीं है जब जीव तीर्थ व्रत, वेद कुरान, रोजा नमाज, उपासना योग आदि करते थक गया और कुछ करते नहीं बना तब उसने नौ कोशों और छः देहों में अपना घर बनाया । नौ कोश ये हैं—अन्नमय कोश, शब्दमय कोश, माया मय कोश, आनन्दमय कोश, मनोमय कोश, प्रकाशमय कोश, ज्ञानमय कोश, आकाशमय कोश, विज्ञानमय कोश । छः देह इस प्रकार हैं—

स्थूल देह—पचीस तत्वों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु

आकाश; दस इन्द्रिय, पाँच प्राण, चार अन्तःकरण और जीव। इसकी अवस्था का नाम जाग्रत (जगा रहना) अवस्था है।

सूक्ष्म शरीर सत्रह तत्वों अर्थात् पाँच प्राण, दस इन्द्रिय, मन और बुद्धि से बनता है। इसकी अवस्था स्वप्न है।

कारण देह तीन तत्वों अर्थात् चित्त, अहङ्कार और जीवात्मा से बनता है। इसकी अवस्था का नाम सुषुप्ति (गहरी नींद) है।

महा कारण देह— दो तत्वों—अहङ्कार और जीवात्मा—का है। इसकी अवस्था है तुरीय (ब्रह्म से मिलकर एक हो जाना)।

कैवल्य देह—एक तत्त्व चित—जीवात्मा—से बना है। अवस्था तुरीयातीत (तुरीया से परे) है।

हंस देह—इसमें उक्त तत्त्वों में से कोई तत्त्व नहीं है। जिस प्रकाश में जीव समष्टि रूप था उसी प्रकाश को उसने अपना रूप माना। ऐसा मानना इसका भ्रम मात्र है।

बड़े बड़े धर्माचार्य, मुनि, पैगम्बर आदि ज्यादा से ज्यादा इन्हीं नौ कोशों और छः देहों की बात जानते हैं। वे इनसे निकलने की राह नहीं पा रहे हैं। एक मात्र कबीर को इसका भ्रम छुड़ाने का सामर्थ्य है। यह समझ लेना चाहिए कि हंस देह भी भ्रम ही है, यद्यपि हंसरूप (विशुद्ध चैतन्य) ही जीव का स्वरूप है और उसको प्राप्त होना ही कबीर पन्थी साधक का प्रधान लक्ष्य है। क्योंकि जिस ब्रह्म प्रकाश में तम (अन्धकार) भरा हुआ है उसको जो हंस शरीर मानते हो, और यह भी मानते हो कि हम वही हैं ऐसा मानकर उसमें निमग्न होने से तुम्हारी दशा चार प्रकार की हुई—बाल, मूक, पिशाच, और जड़; बुद्धि ठिकाने न रही, एक दम अचेत हो गये। पूर्ण गुरु के बिना तुम को हंस देह कदापि प्राप्त न होगी। जिसको तुमने हंस देह अनुमान कर रखा है सो तुम्हारी भूल और भ्रम है। हंस का स्वरूप सद्गुरु की दया के बिना कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। कहते हैं स्वयं कबीरदास ने छः

देहों का परिचय बताया है और यह भी कहा है कि हंस रूप के गुण अकथ हैं।

सद्गुरु की कृपा से जब यह भ्रान्त जीव पारख गुरु के निकट पहुँच जाता है तब इसका एक-अनेक का भ्रम नष्ट हो जाता है और यह अपने सत्य स्वरूप को पा जाता है। पारख से ही इसका मन और बुद्धि स्थिर होती है और आवागमन छूट जाता है। वेद ने जो 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों का उपदेश दिया है उसके तीनों पद—तत् त्वम् असि—ज्ञानी धोखा समझता है। इन तीनों के ऊपर पारख पद है। वही सत्य पद है। उसी से जीव की मुक्ति होती है। जो कोई पारख पद प्राप्त कर लेता है वही पारखी कहलाता है। वही पारखी सच्चा गुरु हो सकता है। क्योंकि वही एक मात्र ऐसा है जो जीव के बन्धन को छुड़ा सकता है। इसलिए उसे 'बन्दी छोर' कहते हैं। वह एक अनन्त, बाहर भीतर, पिण्ड ब्रह्माण्ड सबके भेद और कसर खोट को भिन्न भिन्न करके परखा देता है। पारख पद को प्राप्त हुआ पुरुष फिर कभी पतित नहीं होता।

कैवल्य (मुक्त) शरीर से लेकर स्थूल देह तक सभी नाशमान हैं, निर्मूल हैं। किसी में अन्धकार है, किसी में प्रकाश; किसी में थोड़ा ज्ञान है, किसी में बहुत; किसी में थोड़ा सामर्थ्य है, किसी में बहुत; कोई थोड़े दिन जीता है, कोई दीर्घायु होता है। जीव कैसे ही पद को प्राप्त हो परन्तु जब तक इन पाँच देहों के अहङ्कार से न छूटेगा तब तक सुख को प्राप्त न हो सकेगा। ये पाँचो अहङ्कार काल पुरुष के हैं। इन्हीं के द्वारा कर्म के दोनों भेद—विधि और निषेध—बताये हैं। इसके भेद को हंस कबीर के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जान सकता।

क्षमा, सन्तोष, विचार और सत्संग ये चारों मुक्ति के पौरिये हैं। इन चारों को जो धारण करेंगे उन्हें सब कुछ प्राप्त होगा। इनसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। इन चारों के बिना किसी को मुक्ति का मार्ग नहीं मिल सकता

———